Translated by - ***MVS Foundaiton***

चोल : दक्षिण भारतीय अतीत पर परिपेक्ष्य ।

बी.ए. (प्रोग्राम) इतिहास सेमेस्टर-VII

विषय विशिष्ट ऐच्छिक पाठ्यक्रम (DSE)

पाठ्यक्रम क्रेडिट-4

UGCF-2022 और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के अनुसार

(इतिहास विभाग)

READING NOTES

विषय-सूची

इकाई I	साम्राज्यवादी चोल	
इकाई II	आर्थिक संरचनाएँ और सामाजिक परिवर्तन	
इकाई III	दृश्य संस्कृति और लैंगिक भूमिका	
इकाई IV	युद्ध और अंतर-सांस्कृतिक संपर्क	

इकाई I

साम्राज्यवादी चोल

परिचय

चोल राजवंश का इतिहास दक्षिण भारत के सबसे स्थायी साम्राज्यवादी वंशों में से एक का प्रतिनिधित्व करता है, जो नौवीं शताब्दी ईस्वी के मध्य से लेकर तेरहवीं शताब्दी ईस्वी के उत्तरार्ध तक, लगभग चार शताब्दियों में फैला हुआ है (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 229)। उपजाऊ कावेरी डेल्टा में उत्पन्न हुआ यह राजवंश एक क्षेत्रीय मुखियातंत्र (चीफ़डम) से विकसित होकर एक विशाल साम्राज्य बना, जिसमें जटिल राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संरचनाएँ दिखाई देती हैं (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 229)।

साम्राज्यवादी चोल नामक यह इकाई विद्यार्थियों को इस महत्त्वपूर्ण काल के दौरान राजत्व और राज्य-निर्माण की मूलभूत प्रक्रियाओं का आलोचनात्मक विश्लेषण करने में सक्षम बनाने के लिए तैयार की गई है। प्रमुख सैद्धांतिक और ऐतिहासिक विद्वत्ता के आधार पर, विद्यार्थी उन तंत्रों का अध्ययन करेंगे, जिनके माध्यम से चोल राजसत्ता स्थापित, सुदृढ़ और बनाए रखी गई। मुख्य ध्यान-केंद्रित क्षेत्रों में शामिल हैं (क) चोल राजत्व और राज्य-संरचना की विकसित होती प्रकृति, (ख) सत्ता को वैधता प्रदान करने में राजकीय मंदिर-निर्माण, वंशावलियों और अनुष्ठानिक प्रतीकवाद द्वारा निभाई गई महत्त्वपूर्ण भूमिका, और (ग) श्रीलंका और दक्षिण-पूर्व एशिया जैसे क्षेत्रों में चोल राज्य के बड़े पैमाने पर सैन्य और कूटनीतिक विस्तार के परिणाम और उसका स्वरूप। अंततः, इस इकाई का लक्ष्य विद्यार्थियों को इस बात की व्यापक समझ प्रदान करना है कि राजनीतिक शक्ति, धार्मिक संस्थाओं और सैन्य महत्त्वाकांक्षा ने किस प्रकार एक-दूसरे से जुड़कर चोल साम्राज्य के उत्थान और अंततः पतन को आकार दिया।

चोल वंशावली और राजनीतिक इतिहास

चोल राजवंश के अपने अस्पष्ट उद्गम से लेकर साम्राज्यवादी चरमोत्कर्ष और अंततः विखंडन तक के राजनीतिक मार्ग को मोटे तौर पर चार विश्लेषणात्मक कालों में विभाजित किया जा सकता है, जिनमें से प्रत्येक विशिष्ट राजनीतिक और सामाजिक प्रवृत्तियों को दर्शाता है (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 208)।

काल 1: निर्माणात्मक चरण (लगभग 850 ई. से 985 ई.)

चोल राजवंश की स्थापना लगभग नौवीं शताब्दी ईस्वी के मध्य में विजयालय (लगभग 850–871 ई.) ने की थी, जिसने पड़ोसी मुत्तरैयर मुखियाओं से तंजावुर नगर पर अधिकार कर लिया था (ओगुरा, 1999, पृ. 120; सुब्बारायलु, 2012, पृ. 208)। विजयालय को अपनी विजय के उपलक्ष्य में तंजावुर में देवी

निशुंभसूदनी की एक प्रतिमा समर्पित करने के लिए जाना जाता है, यद्यपि उसने अपना कोई प्रमुख मंदिर नहीं छोड़ा (ओगुरा, 1999, पृ. 120)।

उसके उत्तराधिकारियों के अधीन राजवंश का आगे विस्तार हुआ। सुंदर चोल के अन्बिल ताम्रपत्रों जैसे बाद के अभिलेखों में परंपरागत रूप से आदित्य I (871–907 ई.) को कावेरी नदी के तटों पर पत्थर से बने विशाल शिव मंदिरों की एक श्रृंखला के निर्माण का श्रेय दिया गया है (ओगुरा, 1999, पृ. 120)। हालाँकि, मंदिर-निर्माण से संबंधित आदित्य I के समकालीन स्थापना-अभिलेख दुर्लभ हैं (ओगुरा, 1999, पृ. 121)।

दसवीं शताब्दी के आरंभ में उन पल्लवों के विस्थापन के साथ, जिनका पहले तमिलनाडु के उत्तरी ज़िलों पर नियंत्रण था, चोल एक शक्तिशाली शासक राजवंश बन गए (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 208)। परांतक I (907–954 ई.) ने चोल क्षेत्र का उल्लेखनीय विस्तार किया और पांड्यों पर सफलता प्राप्त की (ओगुरा, 1999, पृ. 126)। वह कुछ मंदिर-निर्माणों के लिए उत्तरदायी था, विशेष रूप से 941 ई. में तोंडैमानाडु में कोदंडरामेश्वर मंदिर की संपूर्ण संरचना, जो उस स्थान पर बनाया गया था जहाँ उसके पिता आदित्य I की युद्ध में मृत्यु हुई थी (ओगुरा, 1999, पृ. 124)। इस काल में मूल क्षेत्र का विस्तार हुआ और तोंडै-नाडु (पल्लवों का मूल क्षेत्र) को अपने में मिला लिया गया (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 208)।

हालाँकि, दसवीं शताब्दी के मध्य के आसपास यह विस्तार अस्थायी रूप से पंगु हो गया, जब चोल राज्य उत्तर-पश्चिम से राष्ट्रकूट राजा के आक्रमणों के आगे झुक गया (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 208)। गंडरादित्य (949–957 ई.) जैसे राजाओं ने किसी राजकीय मंदिर का निर्माण नहीं किया (ओगुरा, 1999, पृ. 123)। सुंदर चोल (957–973/975 ई.) के अधीन क्षेत्र को पुनः प्राप्त किया गया (ओगुरा, 1999, पृ. 126)। उत्तम चोल (971–988 ई.) के बाद के शासनकाल के दौरान, उसकी माता सेम्बियन महादेवी ने मंदिर-निर्माण और संरक्षण में राजपरिवार की भागीदारी को सुदृढ़ करने में निर्णायक भूमिका निभाई (ओगुरा, 1999, पृ. 125)।

इस प्रारंभिक चरण के दौरान चोल राजा अकेले शासन नहीं करता था; छोटे, प्राचीन वंशों के अनेक मुखिया अधीनस्थ संबंध बनाए रखते थे, जिनके अपने क्षेत्र, दरबार, अधिकारी और सेनाएँ होती थीं। ये मुखिया चोल राजा के नाम पर अभिलेख जारी करके और युद्धों में सहायता करके अपनी स्वामिभक्ति प्रदर्शित करते थे (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 209)।

काल 2: विस्तार और सुदृढ़ीकरण का साम्राज्यवादी चरण (986 ई. से 1070 ई.)

यह चरण चोल शक्ति के चरम बिंदु का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें महान राजराज I और उसके पुत्र तथा पौत्रों के शासनकाल शामिल हैं (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 208)।

राजराज I (985–1014 ई.): राजराज I 985 ई. में उत्तम चोल का उत्तराधिकारी बना और उसने चोल राज्य का तेज़ी से विस्तार किया, जो पहले बाहरी खतरों के कारण सिकुड़ गया था (ओगुरा, 1999, पृ.

126)। उसने प्रायद्वीपीय दक्षिण भारत के अनेक पड़ोसी राज्यों को पराजित किया या उन पर चोल अधिराजत्व स्थापित किया और महत्त्वपूर्ण तटीय तथा द्वीपीय क्षेत्रों तक चोल नियंत्रण का विस्तार किया। राजराज I ने श्रीलंका के अपतटीय द्वीपों (ईळमंडलम्) पर विजय प्राप्त की और मालदीव पर अधिराजत्व स्थापित किया (कुल्के, 2010, पृ. 3; स्पेंसर, 1976, पृ. 410)। राजराज ने महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक और सांस्कृतिक परिवर्तन आरंभ किए, जिनमें मुखियाओं के क्षेत्रों को अपनी नई *वळनाडु* योजना में शामिल करना और पहला देशव्यापी भूमि सर्वेक्षण करना शामिल था (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 209)। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसने अपनी नई राजधानी तंजावुर में विशाल राजराजेश्वर मंदिर (बृहदीश्वर) का निर्माण किया, जिससे एक नई साम्राज्यवादी विचारधारा सुदृढ़ हुई (ओगुरा, 1999, पृ. 126)।

राजेंद्र I (1012–1044 ई.): राजेंद्र I ने अपने पिता की साम्राज्यवादी नीतियों को जारी रखा (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 209)। उसका शासनकाल महत्त्वाकांक्षी सैन्य अभियानों के लिए जाना जाता है, जिनमें कलिंग से होते हुए गंगा (*गंगै*) तक का विजयी अभियान शामिल है, जिसने पूर्वी तट पर प्रतिद्वंद्वियों को समाप्त कर दिया और उसे *गंगैकोंड* की उपाधि दिलाई (कुल्के, 2010, पृ. 9)। राजेंद्र I ने बंगाल की खाड़ी के पार भी अपने पिता की साम्राज्यवादी योजनाओं को आगे बढ़ाया और 1025 ई. में दक्षिण-पूर्व एशिया के श्रीविजय राज्य के विरुद्ध एक अनूठे नौसैनिक अभियान का नेतृत्व किया (कुल्के, 2010, पृ. 1; सुब्बारायलु, 2012, पृ. 209)। उसने एक नई राजधानी, गंगैकोंडचोलपुरम् की स्थापना की, जहाँ उसने भव्य राजेंद्रेश्वर मंदिर का निर्माण किया, जो पैमाने और शैली में लगभग अपने पिता के मंदिर जैसा ही था (ओगुरा, 1999, पृ. 127)। राजेंद्र I ने विजित क्षेत्रों में अपने पुत्रों के अधीन वायसरायशाहियाँ (उपराज्य) भी स्थापित कीं, जैसे पांड्य देश में चोल-पांड्य और उत्तरी श्रीलंका में चोल-लंकेश्वर (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 209)।

राजेंद्र I के तात्कालिक उत्तराधिकारियों, जिनमें उसके तीन पुत्र शामिल थे, ने 1070 ई. तक वंश को जारी रखा (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 209)। इन महान साम्राज्यवादी शासकों के शासनकाल के दौरान, चोल राज्य ने राजनीतिक शक्ति के केंद्रीकरण और प्रशासनिक संरचना के पुनर्गठन के सोचे-समझे प्रयास किए (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 209)।

अधिराजेंद्र (1068–1070 ई.): अधिराजेंद्र के अल्पकालिक शासन ने विजयालय की सीधी वंश-परंपरा के अंत को चिह्नित किया; 1070 ई. में उसकी हत्या कर दी गई (ओगुरा, 1999, पृ. 131)।

काल 3: चोल-चालुक्य वंश और क्षेत्रीय संकुचन (1070 ई. से 1178 ई.)

1070 के संकट के बाद कुलोत्तुंग (एक पूर्वी चालुक्य राजकुमार) चोल सम्राट बना, जिसने कुलोत्तुंग I (1070–1122 ई.) की उपाधि धारण की और चोल-चालुक्य वंश का सूत्रपात किया (ओगुरा, 1999, पृ. 131)। यह संयोग दो प्रमुख राजवंशों के विलय का प्रतिनिधित्व करता था (हाइट्ज़मैन, 1995, पृ. 166)।

यद्यपि कुलोत्तुंग I एक शक्तिशाली शासक था, फिर भी उसके लंबे शासनकाल के उत्तरार्ध के दौरान केंद्रीय कावेरी क्षेत्र के बाहर चोल अधिराजत्व सिकुड़ने लगा (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 210)। चोल-पांड्य वायसरायशाही 1070 ई. के बाद समाप्त हो गई, और इसके बाद से चोल राज्य में सामान्यतः केवल *चोल-मंडलम्* और *तोंडै-मंडलम्* ही शामिल रहे (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 210)।

इस वंश के उत्तराधिकारियों में विक्रम चोल (1118–1135 ई.) शामिल था, जिसने विक्रमचोलीश्वर मंदिर का निर्माण किया (ओगुरा, 1999, पृ. 132), और राजराज II (1146–1172 ई.), जिसने दारासुरम् में राजराजेश्वर मंदिर (ऐरावतेश्वर मंदिर) का निर्माण किया (ओगुरा, 1999, पृ. 132)। इस पूरे काल में स्थानीय मुखियाओं (*नाडु* नेताओं) का धीरे-धीरे पुनरुत्थान हुआ, और साम्राज्यवादी चरण की तुलना में मंदिर-स्थापत्य में राजकीय व्यक्तित्व कम उभरकर सामने आया (ओगुरा, 1999, पृ. 132; हाइट्ज़मैन, 1995, पृ. 166)।

काल 4: विखंडन और पतन (1179 ई. से 1279 ई.)

इस अंतिम काल में शक्तिशाली मुखिया परिवारों का पूर्ण उदय और चोल राज्य का अंतिम विघटन देखा गया (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 208)।

कुलोत्तुंग III (1178–1218 ई.): कुलोत्तुंग III ने त्रिभुवनम् में त्रिभुवनवीरेश्वर मंदिर (कंपहरेश्वर मंदिर) का निर्माण किया, जो महान चोल मंदिरों की पराकाष्ठा को चिह्नित करता है (ओगुरा, 1999, पृ. 132)। हालाँकि, बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक चोल राजा मुखियाओं की सेनाओं पर अधिकाधिक निर्भर होता गया (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 211)।

तेरहवीं शताब्दी में पतन की गति तेज़ हो गई। जैसे-जैसे पांड्य राजा चोल सर्वोच्चता को चुनौती देने योग्य शक्तिशाली होता गया, काडव, बाण और तेलुगु चोल जैसे शक्तिशाली और स्वतंत्र मुखियाओं के उदय से चोल शासन कमज़ोर हो गया (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 211)। कर्नाटक के होयसलों ने भी प्रभाव डालना आरंभ कर दिया और 1230 ई. में जब राजराज III को एक काडव मुखिया ने बंदी बना लिया, तब हस्तक्षेप करने के बाद उन्होंने तिरुचिरापल्ली क्षेत्र में एक समानांतर शासन स्थापित कर लिया (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 211)।

अंतिम चोल राजा, राजेंद्र III (1246–1279 ई.) ने अपने शासनकाल के अंत तक अपने नाममात्र के शासन के अंतर्गत केवल कावेरी डेल्टा को ही बनाए रखा, जिससे राजवंश का अंतिम पतन चिह्नित हुआ (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 211)।

क) राजत्व और राज्य-निर्माण

मध्यकालीन दक्षिण भारत से संबंधित ऐतिहासिक बहसों में राजत्व की प्रकृति और चोल राज्य की संरचना केंद्रीय मुद्दे रहे हैं। अपने चार शताब्दियों के अस्तित्व के दौरान चोल राज्य का उल्लेखनीय विकास हुआ,

जो एक अत्यधिक विकेंद्रीकृत संरचना से, विशेष रूप से साम्राज्यवादी चरण के दौरान, उल्लेखनीय रूप से अधिक केंद्रीकृत राजनीतिक व्यवस्था की ओर बढ़ा (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 240)।

चोल राजव्यवस्था के प्रतिमान (मॉडल)

ऐतिहासिक रूप से, विद्वानों ने तीन प्रमुख, प्रायः परस्पर विरोधी प्रतिमानों के माध्यम से चोल राज्य का चरित्र-चित्रण करने का प्रयास किया है: नौकरशाही, सामंती और खंडीय (सेगमेंटरी) (हाइट्ज़मैन, 1995, पृ. 162)।

1. **नौकरशाही/केंद्रीकृत प्रतिमान:** के. ए. नीलकंठ शास्त्री जैसे विद्वानों द्वारा समर्थित पुराने ऐतिहासिक दृष्टिकोण चोल राजनीति को केंद्रीकृत और नौकरशाही के रूप में देखने पर बल देते थे, जिसका अर्थ एक आधुनिक, एकात्मक राज्य-स्वरूप था (स्टाइन, 1995, पृ. 136; सुब्बारायलु, 2012, पृ. 248)। इस दृष्टिकोण के अनुसार चोल राज्य एक अत्यधिक केंद्रीकृत साम्राज्यवादी राज्य था, जिसकी नौकरशाही सुव्यवस्थित और कुशल थी, यद्यपि वह कथित रूप से स्थानीय संस्थाओं में न्यूनतम हस्तक्षेप करता था (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 248)। इस प्रतिमान के समर्थकों ने केंद्रीय नौकरशाही शक्ति पर ध्यान केंद्रित किया और समय के साथ बहुत कम संरचनात्मक परिवर्तन माना (हाइट्ज़मैन, 1995, पृ. 164)।
2. **सामंती प्रतिमान:** आर. एस. शर्मा जैसे विद्वानों से जुड़ा यह प्रतिमान स्वतंत्र, मध्यवर्ती राजनीतिक पदों और राज्य के अधिकारों के विखंडन पर बल देता है (हाइट्ज़मैन, 1995, पृ. 163)। सामंती राज्य या समाज के संबंध में कुछ अस्थायी सुझाव दिए गए हैं, विशेष रूप से चोल काल के अंतिम चरण या *ब्राह्मण* गाँवों (*ब्रह्मदेयों*) में देखे गए भूमि-संबंधों के विषय में, जिनकी विशेषता बड़े भूमिधारकों और दास-सदृश कृषकों का उदय है (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 209, 241)। कुछ विद्वान सामंती अवधारणा के प्रयोग को इसलिए प्रोत्साहित करते हैं, क्योंकि इसमें सामाजिक-आर्थिक संगठन को स्पष्ट करने की क्षमता है, भले ही यह यूरोपीय सामंतवाद से पूरी तरह मेल न खाता हो (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 250)।
3. **खंडीय राज्य प्रतिमान:** अफ़्रीका में एडन साउथॉल के कार्य के आधार पर बर्टन स्टाइन द्वारा प्रतिपादित इस अवधारणा ने यह स्थापित किया कि चोल राजव्यवस्था पिरामिडनुमा ढंग से खंडित थी (स्टाइन, 1995, पृ. 135, 137)। खंडीय राज्य को इस प्रकार परिभाषित किया गया है:
    - अनेक राजनीतिक केंद्रों या क्षेत्रों (खंडों) का अस्तित्व (स्टाइन, 1995, पृ. 137)।
    - अनुष्ठानिक संप्रभुता (जो केवल अभिषिक्त राजा के पास होती है) और राजनीतिक शक्ति (*क्षत्र*), जिसका प्रयोग अनेक लोग कर सकते हैं, के बीच अंतर (स्टाइन, 1995, पृ. 137)।

- सभी केंद्रों के पास स्वायत्त प्रशासनिक और दमनकारी साधनों का होना (स्टाइन, 1995, पृ. 138)।
- छोटे राजनीतिक केंद्रों द्वारा एक ही अनुष्ठानिक केंद्र (राजा) को अनुष्ठानिक मान्यता (स्टाइन, 1995, पृ. 138)।

दक्षिण भारतीय संदर्भ में, स्टाइन ने *नाडुओं* नामक अनेक स्थानीय सामाजिक इकाइयों को मूलभूत, पिरामिडनुमा ढंग से संगठित खंडों के रूप में पहचाना (स्टाइन, 1995, पृ. 136, 138)। खंडीय राज्य प्रतिमान यह सुझाता है कि प्रभावी क्षेत्रीय संप्रभुता केवल केंद्रीय क्षेत्र (समृद्ध कावेरी डेल्टा) तक ही सीमित थी, जबकि परिधीय क्षेत्रों में संप्रभुता अधिकाधिक अनुष्ठानिक प्रभुत्व बनती गई (स्टाइन, 1995, पृ. 150)। हालाँकि, इस प्रतिमान के आलोचक चोल शासन के मध्य चरण के दौरान केंद्रीकृत राज्य के स्पष्ट संकेतों की ओर इशारा करते हैं और तर्क देते हैं कि स्टाइन बदलती प्रशासनिक संरचनाओं और केंद्रीकरण के स्पष्ट साक्ष्यों की व्याख्या करने में विफल रहे (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 249, 254)।

साम्राज्यवादी चोलों की केंद्रीकरण की प्रवृत्ति

अनुभवजन्य साक्ष्य, विशेष रूप से व्यापक चोल अभिलेखों से प्राप्त साक्ष्य, एक गतिशील प्रक्रिया की ओर संकेत करते हैं, जिसमें चोल शासकों ने, विशेष रूप से राजराज I (लगभग 985 ई.) के उदय के बाद, सत्ता के केंद्रीकरण का सक्रिय प्रयास किया (हाइट्ज़मैन, 1995, पृ. 178)।

केंद्रीय व्यक्ति के रूप में राजा: चोल राज्य में राजा निर्विवाद रूप से केंद्रीय व्यक्ति था (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 211)। जैसे-जैसे राजा की स्थिति एक क्षेत्रीय मुखिया (नौवीं शताब्दी) से एक सम्राट (ग्यारहवीं शताब्दी) तक ऊँची होती गई, भव्य उपाधियों का प्रयोग भी बढ़ता गया (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 211)। पहले राजा को *पेरुमान* ('महान पुरुष') कहा जाता था, परंतु बाद में उपाधियाँ अधिक सामाजिक दूरी और दैवीय गुणों को दर्शाने के लिए विकसित हुईं, जैसे *उडैयार* ('हमारे स्वामी') और बाद में *उलगुडैय-पेरुमाळ* ('संसार के स्वामी') (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 211)। अंततः *श्रीभुवन-चक्रवर्ती* ('तीनों लोकों के सम्राट') जैसी उपाधियाँ अपनाई गईं (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 212)। राजा को निरंतर सम्मान का स्रोत माना जाता था (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 212)।

नौकरशाही तंत्र: साम्राज्यवादी चरण (986–1070 ई.) के दौरान संपूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था को पुनर्गठित करने के सोचे-समझे राजकीय प्रयास किए गए (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 230)।

चोल राजाओं के अधिकारियों को मोटे तौर पर दो समूहों में विभाजित किया जा सकता है: विस्तारित दरबार और नौकरशाही अभिकर्ता (हाइट्ज़मैन, 1995, पृ. 175, 176)।

1. **विस्तारित दरबार:** इस समूह में कार्यात्मक उपाधियाँ धारण करने वाले व्यक्ति शामिल थे (जैसे *नाडु-वगै* कार्य करने वाले या *सेनापति*), जो प्रायः स्थानीय विवादों में मध्यस्थ के रूप में कार्य करते थे, संबंधित दस्तावेज़ों की जाँच करते थे और निर्णय सुनाते थे (हाइट्ज़मैन, 1995, पृ. 174, 175)। ये अभिकर्ता अपनी पहल पर या राजा के सामान्य आदेश से कार्य करते प्रतीत होते थे, जो किसी विस्तृत प्रशासनिक संगठन के स्थान पर एक निष्ठावान "विस्तारित दरबार" जैसे लगते थे (हाइट्ज़मैन, 1995, पृ. 175)। सरकार के सर्वोच्च अधिकारी, जो राजा की ओर से कार्यकारी आदेश जारी करते थे, प्रायः अधिकारी (*अधिकारी*, अर्थात् अधिकार का प्रयोग करने वाला) कहलाते थे (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 224)। *अधिकारियों* का स्वर्णकाल ग्यारहवीं शताब्दी (काल 2) था (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 225)। राजकीय लिपिक, या निजी सचिव, जो राजा के मौखिक आदेशों को लिखित रूप देता था, *तिरुमंदिर-ओलै*, या केवल ओलै कहलाता था (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 225)।
2. **नौकरशाही (भू-राजस्व विभाग):** राजराज I के समय से चोल प्रशासन ने कृषि संसाधनों पर नियंत्रण के लिए एक अत्यधिक तर्कसंगत और विशिष्ट व्यवस्था विकसित की। पुरवुवरि-तिणैक्कळम् (भू-राजस्व विभाग) वह संस्था थी, जिसका मुख्य संबंध भू-धृति अभिलेखों, राजस्व लेखों और कर-निर्धारण से था (हाइट्ज़मैन, 1995, पृ. 176; सुब्बारायलु, 2012, पृ. 226)। यह विभाग एक निश्चित, पदानुक्रमित संरचना के साथ कार्य करता था (हाइट्ज़मैन, 1995, पृ. 176; सुब्बारायलु, 2012, पृ. 226)। तर्कसंगत प्रक्रियाओं और पदानुक्रम में संगठित कार्यालयों से चिह्नित यह संस्थागत विकास अधिक केंद्रीकृत नौकरशाही राज्य-तंत्र की दिशा में एक स्पष्ट कदम था (हाइट्ज़मैन, 1995, पृ. 176)। कर-स्थगन और संसाधन-आवंटन से संबंधित राजकीय आदेशों (*तिरुमुगम्*, 'पवित्र मुख') का बार-बार जारी होना, जो प्रायः राजा के इर्द-गिर्द व्यक्तिगत रूप से केंद्रित होते थे, स्थानीय स्तर पर मंदिरों से जुड़े संसाधनों में शासक की विशेष रुचि और उन पर उसके अंतिम नियंत्रण को दर्शाता था (हाइट्ज़मैन, 1995, पृ. 171)।

कराधान और संसाधनों में पैठ: कर-संबंधी शब्दावली के विश्लेषण से लगभग 1000 ई. के बाद चोल राजाओं के अधीनस्थ बाहरी अभिकरणों द्वारा ग्रामीण परिवेश में बढ़ती पैठ का एक सुसंगत प्रतिरूप प्रकट होता है (हाइट्ज़मैन, 1995, पृ. 183)। करों के दो प्रमुख समूह एकत्र किए जाते थे:

1. **कडमै**: प्रमुख भू-कर, जिससे राजस्व का अधिकांश भाग प्राप्त होता था और जो सीधे भूस्वामी से अनाज में या कभी-कभी धन में एकत्र किया जाता था (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 233)। *कडमै* शब्द के प्रयोग की आवृत्ति समय के साथ निरंतर बढ़ती गई (हाइट्ज़मैन, 1995, पृ. 182)।
2. **कुडिमै**: श्रम-कर, जो अधिकतर बेगार (अवैतनिक श्रम) के रूप में प्रत्यक्ष उत्पादकों (कृषकों) से लिया जाता था। इस श्रम का प्रयोग सिंचाई के रख-रखाव, मंदिर-सेवा और अधिकारियों के भरण-

पोषण के लिए किया जाता था (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 233)। *कुडिमै* का बोझ बढ़ता गया और बारहवीं शताब्दी के अंत तक असहनीय हो गया (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 235)।

स्थानीय उपकरों से *कडमै* और *अंतरायम्* (राजकीय राजस्व विभाग द्वारा निर्धारित एक उपकर) जैसे केंद्रीकृत शब्दों की ओर बदलाव, उच्चतर अभिकरणों के हाथों में कर-संग्रह शक्ति के अधिक संकेंद्रण की ओर संकेत करता है (हाइट्ज़मैन, 1995, पृ. 182)।

नियंत्रण में भौगोलिक भिन्नता: चोल एकीकरण नीतियों की सफलता बहुत हद तक स्थानीय परिस्थितियों और भूगोल पर निर्भर करती थी (हाइट्ज़मैन, 1995, पृ. 191)। राजकीय गतिविधियों और अधिकारियों की सर्वाधिक आवृत्ति से प्रदर्शित केंद्रीय राजकीय नियंत्रण कावेरी नदी बेसिन से गहराई से जुड़ा था (हाइट्ज़मैन, 1995, पृ. 171, 172)। इन केंद्रीय, आर्द्र क्षेत्रों (जैसे कुंभकोणम और तिरुचिरापल्ली) में राजा के अभिकर्ताओं (विशेष रूप से भू-राजस्व विभाग) का प्रभुत्व था (हाइट्ज़मैन, 1995, पृ. 177)। बाहरी, शुष्क क्षेत्रों (जैसे पुदुक्कोट्टै) में *नाट्टार* (*नाडु* नेताओं की सभाएँ) ने उल्लेखनीय स्वायत्तता बनाए रखी और कभी-कभी प्रशासनिक तथा मध्यस्थता संबंधी कार्य भी किए। जब भी राजसत्ता कमज़ोर होती थी, उनकी दृश्यता बढ़ जाती थी (हाइट्ज़मैन, 1995, पृ. 184)। यह स्थानिक भिन्नता इस बात की पुष्टि करती है कि यद्यपि चोलों ने केंद्रीकरण का प्रयास किया, फिर भी परिधीय क्षेत्रों में उन्हें प्रायः स्थानीय शक्तिशाली परिवारों या मुखियाओं के साथ समझौते करने पड़ते थे, जो 'सामंती' अधीनता से मिलती-जुलती प्रक्रिया थी, विशेष रूप से नदी-तटीय क्षेत्रों में (हाइट्ज़मैन, 1995, पृ. 192)।

ख) वैधता के रूप: राजकीय मंदिर नीति और वंशावलियों की भूमिका

चोल राजाओं ने अपनी सत्ता को स्थापित करने और वैधता प्रदान करने के लिए धर्म, अनुष्ठानिक प्रतीकवाद और पौराणिक वंशों पर व्यापक रूप से भरोसा किया, जिससे शासन की लागत कम हुई और उनकी संभावित रूप से कमज़ोर प्रशासनिक व्यवस्थाओं की पूर्ति हुई (ओगुरा, 1999, पृ. 119)।

वंशावलियों की भूमिका

चोलों ने गहरी ऐतिहासिक और दैवीय जड़ों का दावा करके वैधता प्राप्त की। सत्ता को सुदृढ़ करने के तुरंत बाद उन्होंने एक पौराणिक वंशावली अपना ली, जो उन्हें उत्तर भारत की पौराणिक परंपराओं से जोड़ती थी (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 208)। उनकी *प्रशस्तियों* (स्तुति-लेखों) के वंशावली वाले भाग राजवंश की उत्पत्ति को देवताओं से जोड़ते हैं, जैसे सूर्य (*सूर्य*) से वंश-उत्पत्ति का दावा (ओगुरा, 1999, पृ. 130; सुब्बारायलु, 2012, पृ. 213)। राजनीतिक गतिविधि के समय, ऐसे पौराणिक पूर्वजों को कभी-कभी वर्तमान राजकीय नीतियों का समर्थन करने वाले कार्यों का श्रेय दिया जाता था; उदाहरण के लिए, उत्तम चोल के शासनकाल के दौरान पौराणिक पूर्वज राजा कच्छपन को सक्रिय मंदिर-निर्माण का श्रेय दिया गया (ओगुरा, 1999, पृ. 137)।

राजकीय मंदिर नीति: कालानुक्रमिक चरण

मंदिर-निर्माण में चोल राजपरिवार की भागीदारी समय के साथ विकसित हुई, जो राजत्व और संसाधनों पर अधिकार की बदलती अवधारणाओं को दर्शाती है (ओगुरा, 1999, पृ. 120)।

1. प्रारंभिक चरण (लगभग 850–1000 ई.): वीर राजत्व और स्थानीय देवालय

प्रारंभिक चरण में राजकीय निर्माण दो मुख्य क्षेत्रों पर केंद्रित था: समाधि-मंदिर और स्थानीय शिव देवालयों का संरक्षण (ओगुरा, 1999, पृ. 124, 135)।

- **समाधि-मंदिर (पळ्ळिप्पडै):** ये अंत्येष्टि-मंदिर उन राजाओं या संबंधियों के अवशेषों पर बनाए जाते थे, जिनकी युद्ध में मृत्यु हुई थी (ओगुरा, 1999, पृ. 124)। सबसे प्रारंभिक स्पष्ट राजकीय उदाहरण कोदंडरामेश्वर मंदिर है, जिसे परांतक I ने 941 ई. में अपने पिता आदित्य I के लिए बनवाया था (ओगुरा, 1999, पृ. 124)। पाशुपत संप्रदाय के धर्माचार्यों की अध्यक्षता वाले इन मंदिरों में वीर राजाओं की स्मृति को सुरक्षित रखा जाता था, जिससे जीवित शासक को एक देवत्व-प्राप्त वीर वंश से जोड़कर वैधता प्राप्त होती थी (ओगुरा, 1999, पृ. 124, 125)। यह प्रथा प्रारंभिक शैव धर्म के साथ मिश्रित पारंपरिक तमिल योद्धा संस्कृति को दर्शाती है (ओगुरा, 1999, पृ. 124, 125)।
- **स्थानीय शिव देवालय:** राजकीय संरक्षण कुल-देवी, देवी निशुंभसूदनी (जिसकी विजयालय पूजा करता था), से हटकर सार्वभौमिक देवता शिव की ओर स्थानांतरित हो गया (ओगुरा, 1999, पृ. 125)। पारंपरिक पवित्र स्थलों पर विद्यमान, प्रायः लकड़ी या ईंट से बनी संरचनाओं को पत्थर के मंदिरों में बदलने से शैव धर्म के संरक्षकों के रूप में चोल राजाओं की सार्वभौमिक वैधता का विस्तार हुआ (ओगुरा, 1999, पृ. 125)। ये मंदिर मध्यम आकार के थे, जो बड़े पैमाने पर निर्माण के लिए संसाधनों की प्रारंभिक कमी का संकेत देते हैं (ओगुरा, 1999, पृ. 125)।
- **सेम्बियन महादेवी का प्रभाव:** इस चरण के उत्तरार्ध में उत्तम चोल की माता सेम्बियन महादेवी ने राजकीय भागीदारी को और तीव्र किया तथा अनेक मंदिरों का निर्माण कराया, जिन पर उसके स्थापना-अभिलेख अंकित हैं (ओगुरा, 1999, पृ. 125, 135)। उसने मंदिरों के नाम रखकर (जैसे चोलेश्वर) अपनी पहचान को प्रदर्शित किया और यहाँ तक कि अपनी एक प्रतिमा भी बनवाई, जिसकी नियमित रूप से पूजा की जाती थी (ओगुरा, 1999, पृ. 126)। उसने चिदंबरम के नटराज मंदिर के साथ राजकीय संबंध को भी सुदृढ़ किया (ओगुरा, 1999, पृ. 126)।

2. मध्य चरण (लगभग 1000–1078 ई.): साम्राज्यवादी मंदिर और राजकीय लिंग-पंथ

राजराज I द्वारा धन और शक्ति के विशाल संचय के बाद इस चरण में एक नाटकीय परिवर्तन आया (ओगुरा, 1999, पृ. 127)।

- **साम्राज्यवादी मंदिर-स्थापत्य:** राजराज I ने तंजावुर में विशाल राजराजेश्वर मंदिर (बृहदीश्वर) का निर्माण किया (ओगुरा, 1999, पृ. 126)। यह मंदिर, गंगैकोंडचोलपुरम् में राजेंद्र I के राजेंद्रेश्वर मंदिर के साथ, साम्राज्यवादी मंदिर की एक बिलकुल नई श्रेणी का प्रतिनिधित्व करता था, जो पैमाने, शैली और स्थान में पिछले निर्माणों से मूलभूत रूप से भिन्न था (ओगुरा, 1999, पृ. 127)। ये मंदिर मुख्य रूप से नवोदित साम्राज्य के अपार धन और शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए बनाई गई स्मारकीय कृतियाँ थे, जिसका अधिकांश भाग युद्ध की लूट से प्राप्त हुआ था (ओगुरा, 1999, पृ. 127, 128)।
- **राजकीय लिंग का पंथ:** इसकी एक प्रमुख विशेषता मुख्य *लिंग* का नाम उसे समर्पित करने वाले राजा के नाम पर रखना थी (ओगुरा, 1999, पृ. 127)। *राजराजेश्वर* ('राजा राजराज के स्वामी') जैसे नामों की संभावित व्याख्या 'स्वामी के रूप में राजराज' भी की जा सकती थी (ओगुरा, 1999, पृ. 127)। यह राजकीय *लिंग* के पंथ के उदय को दर्शाता था, जो एक जीवित राजा के देवत्वीकरण का संकेत देता है (ओगुरा, 1999, पृ. 127)।
- **राजा पर केंद्रित ध्यान:** इन मंदिरों में पूजा अत्यधिक रूप से स्वयं राजा पर केंद्रित थी (ओगुरा, 1999, पृ. 127)। राजराज I की प्रतिमा, जो शिव से बहुत मिलती-जुलती थी, प्रदर्शित की गई थी, और मंदिर की प्रतिमा-योजना में राजा की सैन्य शक्ति को दर्शाने वाले विषयों पर बल दिया गया था (जैसे त्रिपुरांतक रूप में शिव) (ओगुरा, 1999, पृ. 128)। सबसे बड़ा उत्सव राजा के जन्म-नक्षत्र के उपलक्ष्य में मनाया जाता था (ओगुरा, 1999, पृ. 128)।
- **वैधता का समावेश:** साम्राज्यवादी मंदिर वैधता का दोहरा कार्य करते थे, जो राजा की दैवीय आत्म-छवि और रूढ़िवादी ब्राह्मणों के बीच हुए समझौते का परिणाम था (ओगुरा, 1999, पृ. 130, 131)। राजा को शिव का प्रतिनिधित्व करने वाले एक "देव-सदृश भक्त" के रूप में महिमामंडित किया गया, जो मंदिर के आर्थिक तंत्र के माध्यम से अपनी प्रजा में धन (लूट) का पुनर्वितरण करके *दान* की रणनीति को पूरा करता था (ओगुरा, 1999, पृ. 128, 131)। राजराज ने बृहदीश्वर मंदिर के माध्यम से एक केंद्रीकृत अनुष्ठानिक अधिरचना का निर्माण किया, ताकि अपने सामंतों को अनुष्ठानिक निर्भरता में रखा जा सके और संसाधनों को अपने मूल क्षेत्र के आर्थिक विकास की ओर मोड़ा जा सके (कुल्के, 2001, पृ. 15)।

3. उत्तर चरण (लगभग 1070–1279 ई.): लुप्त होता व्यक्तित्व और अखिल भारतीय पंथ

चोल-चालुक्य काल के दौरान ध्यान और अधिक अखिल भारतीय देवताओं की ओर स्थानांतरित हो गया (ओगुरा, 1999, पृ. 131, 133)।

- **व्यक्तिगत पंथों का पतन:** यद्यपि साम्राज्यवादी मंदिरों का निर्माण जारी रहा (जैसे राजराज II द्वारा ऐरावतेश्वर), फिर भी राजा की व्यक्तिगत पहचान या देव-सदृश प्रकृति धीरे-धीरे लुप्त होती गई

(ओगुरा, 1999, पृ. 132, 135)। बाद के मंदिरों में राजा को मूलतः शैव धर्म के एक धर्मपरायण सामान्य संरक्षक की स्थिति तक नीचे ला दिया गया (ओगुरा, 1999, पृ. 133)। *पळ्ळप्पडै* बनाने की प्रथा को भी बढ़ती अस्वीकृति का सामना करना पड़ा (ओगुरा, 1999, पृ. 133)।

- **चिदंबरम नटराज का संरक्षण:** कुलोत्तुंग I और विक्रम चोल जैसे राजाओं ने चिदंबरम के नटराज मंदिर के विस्तार और अलंकरण में भारी निवेश किया, जो अब एक संस्कृतनिष्ठ, सार्वभौमिक देवता बन चुके थे (ओगुरा, 1999, पृ. 133)। नटराज राजवंश के वास्तविक संरक्षक देवता बन गए (ओगुरा, 1999, पृ. 134)। सार्वभौमिक संस्कृतनिष्ठ देवताओं (श्रीरंगम के रंगनाथ सहित) पर संरक्षण केंद्रित करके, राजाओं ने प्रतिद्वंद्वी राजवंशों के विरुद्ध व्यापक, अखिल भारतीय वैधता प्राप्त की और अधिक सुसंगत राजनीतिक आधार के लिए अपनी दैवीय आत्म-छवि का त्याग कर दिया (ओगुरा, 1999, पृ. 134, 135)।

मंदिर और राज्य: एक पारस्परिक संबंध

मंदिर और राज्य के बीच गहरा सहजीवी संबंध था (वेलुथाट, 2017, पृ. 1)। राज्य का संरक्षण मंदिरों को भूमि और सहायता की गारंटी देता था, जबकि मंदिर राजतंत्र को वैधता प्रदान करते थे (वेलुथाट, 2017, पृ. 3)। मंदिर अधिशेष के निष्कर्षण, जनजातीय समाज के विघटन और जाति-आधारित समाज के रूप में उसके पुनर्गठन के सशक्त अभिकर्ता के रूप में कार्य करते थे (वेलुथाट, 2017, पृ. 2)। जाति-विचारधारा (*वर्णाश्रम-धर्म*) को स्वीकार करके और नई सामाजिक व्यवस्था को उस पर आधारित करके, शासक वर्ग ने वैचारिक प्रभुत्व प्राप्त किया (वेलुथाट, 2017, पृ. 3)। राजा पर आरोपित देवत्व ने इस छवि को और सुदृढ़ किया, जिसमें प्रायः पौराणिक हिंदू धर्म के देवताओं और नायकों का उपयोग किया जाता था (वेलुथाट, 2017, पृ. 5)। मंदिरों के नाम अपने नाम पर रखने और *पळ्ळप्पडै* बनाने जैसी प्रथाओं के माध्यम से, चोलों ने पवित्र और लौकिक क्षेत्रों का विलय कर दिया, जिसमें देवता को राजा के और मंदिर-ब्रह्मांड को राज्य-क्षेत्र के समान माना गया (वेलुथाट, 2017, पृ. 5, 7)।

ग) प्रभुत्ववादी विस्तार: श्रीलंका और दक्षिण-पूर्व एशिया

चोल साम्राज्य के सुदृढ़ीकरण की विशेषता आक्रामक सैन्य विस्तारवाद थी, जो भारतीय प्रायद्वीप से बहुत आगे तक फैला हुआ था (कुल्के, 2010, पृ. 3)। ये अभियान संसाधन प्राप्त करने और चोल प्रभुत्व का प्रदर्शन करने के लिए महत्त्वपूर्ण थे।

श्रीलंका (सीलोन) पर आक्रमण और कब्ज़ा

ग्यारहवीं शताब्दी के दौरान श्रीलंका (जिसे सीलोन या ईळ-मंडलम् कहा जाता था) में चोलों की उपस्थिति उनकी साम्राज्यवादी रणनीति का एक निर्णायक अंग थी, जिसकी मुख्य विशेषता को "लूट की राजनीति" कहा जाता है (स्पेंसर, 1976, पृ. 405, 406)।

ऐतिहासिक पूर्व-उदाहरण: दक्षिण भारतीय राज्यों और सीलोन के बीच संघर्ष चोलों से बहुत पहले से सामान्य थे। सीलोन के राजा प्रायः पांड्य राजनीति में हस्तक्षेप करते थे, कभी-कभी मुख्य भूमि से लूट भी प्राप्त करते थे, परंतु प्रायः स्वयं भी आक्रमण का शिकार होते थे (स्पेंसर, 1976, पृ. 408, 409)। सीलोन के राजाओं की उच्छृंखल भारतीय भाड़े के सैनिकों (जैसे *केरट* या *दमिट*) पर भारी निर्भरता के कारण उत्पन्न अस्थिरता ने बाहरी हस्तक्षेप के अवसर प्रदान किए (स्पेंसर, 1976, पृ. 410-411)।

राजराज I और भीषण आक्रमण: राजराज I का आक्रमण लगभग 993 ई. में आरंभ हुआ (स्पेंसर, 1976, पृ. 409)। आंतरिक कलह, विशेष रूप से राजा महिंद V के अधीन अवैतनिक भारतीय भाड़े के सैनिकों के विद्रोह की जानकारी मिलने पर, राजराज ने इसे हस्तक्षेप के अवसर के रूप में देखा (स्पेंसर, 1976, पृ. 411)। चोल सेनाओं ने राजधानी अनुराधापुर को तेज़ी से नष्ट कर दिया, जिसके बाद उसने अपनी राजनीतिक प्रमुखता खो दी (स्पेंसर, 1976, पृ. 412)। चोलों ने पोलोन्नरुव नगर को उत्तरी सीलोन में अपनी प्रमुख बस्ती के रूप में अपने अधिकार में रखा और राजराज की एक उपाधि के आधार पर उसका नाम बदलकर जननाथमंगलम् रख दिया (स्पेंसर, 1976, पृ. 412)।

लूट का उद्देश्य: सीलोन में चोल अभियानों का प्राथमिक उद्देश्य राजदरबार तक "मुक्त रूप से प्रवाहित" संसाधनों की आपूर्ति को बनाए रखना और बढ़ाना था (स्पेंसर, 1976, पृ. 406)। यह द्वीप बहुमूल्य रत्नों के स्रोत के रूप में प्रसिद्ध था और समुद्री व्यापार में इसकी प्रमुख स्थिति थी, जिससे यह एक आकर्षक लक्ष्य बन गया (स्पेंसर, 1976, पृ. 408, 414)।

- **धन के संकेंद्रण को लक्ष्य बनाना:** चोल सेनाओं ने केवल राजमहल पर ही ध्यान केंद्रित नहीं किया; उन्होंने धनी संस्थागत केंद्रों को, विशेष रूप से अनुराधापुर के विशाल बौद्ध मठ-परिसरों *(विहारों)* को लक्ष्य बनाया (स्पेंसर, 1976, पृ. 411, 412)। इन मठ-केंद्रों ने अपार संसाधन संचित कर रखे थे (स्पेंसर, 1976, पृ. 412)।
- **अपवित्रीकरण और चोरी:** समकालीन विवरण और स्पेंसर का विश्लेषण अनुराधापुर की मठीय संपदा के भीषण विनाश पर बल देते हैं, फिर भी इसका प्रतिरूप केवल स्थायी क्षेत्रीय विलय का नहीं था; दक्षिणी सीलोन विवादित बना रहा और अंततः वहाँ ऐसा प्रतिरोध उभरा, जिसके कारण चोलों को पीछे हटना पड़ा (स्पेंसर, 1976, पृ. 411, 416)।
- **निष्कर्षण का सातत्य:** संसाधन-संग्रह के प्रति चोल दृष्टिकोण कराधान-लूट के सातत्य का अनुसरण करता था: सुरक्षित मूल क्षेत्र में नियमित कराधान/नज़राना लगाया जाता था, जबकि प्रतिद्वंद्वी केंद्रों के अधीन सबसे दूरस्थ स्थानों से अनियमित निष्कर्षण के लिए लूट को प्राथमिकता दी जाती थी (स्पेंसर, 1976, पृ. 406)। सीलोन में हुआ विनाश यह प्रदर्शित करता है कि संगठित लूट की गतिविधि पारंपरिक भारतीय राज्य का एक मूलभूत साधन थी (स्पेंसर, 1976, पृ. 407)।

कब्ज़ा और वापसी: राजेंद्र I के अधीन, छापे दक्षिण की ओर उच्छृंखल प्रांत रोहण तक जारी रहे, जहाँ पराजित सीलोनी राजपरिवार (जैसे राजकुमार कस्सप, भावी विजयबाहु I) प्रायः शरण लेते थे (स्पेंसर, 1976, पृ. 416, 417)। हालाँकि, राजेंद्र का "पूर्ण विजय" का दावा अतिरंजित था, क्योंकि चोलों ने वास्तव में दक्षिणी सीलोन पर कभी भी अपना नियंत्रण सुदृढ़ नहीं किया, जहाँ उन बड़ी, समृद्ध बस्तियों का अभाव था, जो सामान्यतः चोलों को दीर्घकालिक कब्ज़े के लिए आकर्षित करती थीं (स्पेंसर, 1976, पृ. 416)। चोलों का कब्ज़ा एक लंबा थकाऊ युद्ध (युद्ध-क्षय) बन गया, जिससे अंततः लाभ मिलना बंद हो गया (स्पेंसर, 1976, पृ. 417, 418)। 1070 ई. तक, स्वदेश में आंतरिक राजनीतिक संकटों और विजयबाहु I के नेतृत्व में निरंतर जवाबी हमलों ने कुलोत्तुंग I को सीलोन के इस अभियान को समाप्त करने के लिए विवश कर दिया, और उसने हानियों की पूर्ति करने के स्थान पर वापसी का विकल्प चुना (स्पेंसर, 1976, पृ. 418)।

व्यापारिक और सैन्य भागीदारी: चोल प्रभुत्व ने *ऐनूट्रुवर* और *वलंजियर* जैसे दक्षिण भारतीय व्यापारी संघों के लिए उत्तरी सीलोन में अपनी व्यापारिक गतिविधियों का विस्तार करने हेतु अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न कीं, जिन्होंने प्रायः सिंहली व्यापारी समूहों को विस्थापित कर दिया (स्पेंसर, 1976, पृ. 415)। ये व्यापारी समूह कभी-कभी व्यापार की रक्षा के लिए और संभवतः साम्राज्यवादी सेनाओं के साथ सेवा करने के लिए अपनी सेनाएँ (*वेलैक्कारर* रेजीमेंटें) भी लाते थे (स्पेंसर, 1976, पृ. 415, 416)। हालाँकि, यह आक्रमण संभवतः भारतीय व्यापारियों के लिए व्यापारिक एकाधिकार सुनिश्चित करने की प्रत्यक्ष रणनीति के स्थान पर राजनीतिक लूट से प्रेरित था, क्योंकि चोल राजा विदेशी व्यापारियों का स्वागत करते थे और स्वयं सीधे व्यापार में संलग्न नहीं होते थे (स्पेंसर, 1976, पृ. 413, 414)।

दक्षिण-पूर्व एशिया (श्रीविजय) के लिए नौसैनिक अभियान

चोल शक्ति का सबसे महत्त्वाकांक्षी प्रदर्शन 1025 ई. में शक्तिशाली समुद्री राज्य श्रीविजय के विरुद्ध राजेंद्र I का विशाल नौसैनिक अभियान था, जो मलक्का जलडमरूमध्य जैसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण मार्ग को नियंत्रित करता था (कुल्के, 2010, पृ. 1)।

एशियाई इतिहास का संदर्भ: इस अभियान को पूरे हिंद महासागर में समकालीन राजनीतिक और आर्थिक घटनाक्रमों के संदर्भ में देखा जाना चाहिए (कुल्के, 2010, पृ. 2)। दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में एक साथ नई शक्तियों का उदय हुआ: मिस्र में फ़ातिमी, चीन में सोंग राजवंश और दक्षिण भारत में चोल (कुल्के, 2010, पृ. 2)। मुस्लिम व्यापारिक गतिविधियों के फ़ारस की खाड़ी से लाल सागर की ओर स्थानांतरित होने से मालाबार तट का महत्त्व बढ़ गया, जो उभरती हुई चोल शक्ति के साथ घनिष्ठ रूप से मेल खाता था (कुल्के, 2010, पृ. 2)।

चोलों के रणनीतिक लक्ष्य: ऐसा प्रतीत होता है कि चोलों ने एक व्यवस्थित विस्तार योजना का पालन किया: दक्षिण भारतीय बंदरगाहों पर विजय प्राप्त करना, श्रीलंका और मालदीव पर अधिकार करना, बंगाल

तक भारतीय विरोधियों को समाप्त करना, और अंततः दक्षिण-पूर्व एशियाई व्यापार मार्गों पर प्रभुत्व रखने वाले श्रीविजय पर आक्रमण करना (कुल्के, 2010, पृ. 3)।

इस अभियान के कारण जटिल हैं, जिनमें व्यापारिक, राजनीतिक और भौतिक प्रेरणाएँ शामिल हैं (कुल्के, 2010, पृ. 1)।

1. **व्यापार में बाधा:** श्रीविजय विदेशी जहाज़ों को अपने बंदरगाहों पर रुकने के लिए विवश करने और ऐसा न करने वाले जहाज़ों पर आक्रमण करने के लिए जाना जाता था, ताकि विशेष रूप से चंदन जैसे उत्पादों में अपना एकाधिकार बनाए रखा जा सके (कुल्के, 2010, पृ. 2, 7)। इसलिए, चोलों का यह आक्रमण संभवतः भारत और सोंग बाज़ारों के बीच के व्यापार मार्ग से बाधाओं को हटाने के उद्देश्य से की गई एक महत्त्वाकांक्षी चाल थी (कुल्के, 2010, पृ. 2)।
2. **लूट और धन:** राजेंद्र के अभिलेख में स्पष्ट रूप से कडारम (श्रीविजय की दूसरी राजधानी) के राजा द्वारा संचित "खज़ाने के विशाल ढेर" पर अधिकार करने का दावा किया गया है (कुल्के, 2010, पृ. 1, 2)। इस अभियान को पिछले युद्धों में अपनाई गई चोलों की "लूट की राजनीति" की पराकाष्ठा के रूप में देखा गया (कुल्के, 2010, पृ. 2)।
3. **प्रभुत्व की स्थापना:** इस अभियान का उद्देश्य राजेंद्र की *दिग्विजय* (विजय) को समुद्र के पार तक फैलाना था, जिससे उसके साम्राज्यवादी मुकुट की चमक बढ़े (कुल्के, 2010, पृ. 1)। एक प्रमुख समुद्री शक्ति के रूप में चोलों के उदय के कारण हिंद महासागर में बाज़ार में हिस्सेदारी के लिए संघर्ष उत्पन्न हुआ (कुल्के, 2010, पृ. 3)।

अनुष्ठानिक कूटनीति और प्रतिद्वंद्विता: आक्रमण से पहले, श्रीविजय ने "अनुष्ठानिक-राजनीतिक" दानों में संलग्न होकर चीन और चोलों, दोनों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध बनाए रखने का प्रयास किया था (कुल्के, 2010, पृ. 6)। उदाहरण के लिए, श्रीविजय के राजा श्री मारविजयोत्तुंगवर्मन ने लगभग 1005 ई. में प्रमुख चोल बंदरगाह नागपट्टिनम में चूडामणि विहार नामक बौद्ध देवालय का निर्माण कराया। राजराज I ने इसके रख-रखाव के लिए एक गाँव का राजस्व दान किया (कुल्के, 2010, पृ. 6)। इस कूटनीति का उद्देश्य श्रीविजय की विशेषाधिकार-प्राप्त व्यापारिक स्थिति को सुदृढ़ करना था (कुल्के, 2010, पृ. 6)।

चोल स्वयं भी कूटनीति में संलग्न रहे और उन्होंने 1015 ई. में चीनी दरबार में दूतमंडल भेजे, जहाँ उन्होंने श्रीविजय के साथ संभावित संघर्ष के संबंध में जानकारी एकत्र की (कुल्के, 2010, पृ. 8)। राजेंद्र I ने 1025 ई. में नौसैनिक अभियान आरंभ किया और मलय प्रायद्वीप, सुमात्रा तथा निकोबार द्वीपों के प्रमुख बंदरगाहों पर छापे मारे (कुल्के, 2010, पृ. 1)। अभिलेखों में कडारम के राजा संग्राम-विजयोत्तुंगवर्मन को बंदी बनाए जाने का उल्लेख है (कुल्के, 2010, पृ. 1)।

अभियान के बाद के प्रभाव: यद्यपि यह अभियान सैन्य रूप से सफल रहा, फिर भी चोल इस सफलता को स्थायी राजनीतिक प्रभुत्व में बदलने के लिए अनिच्छुक थे (कुल्के, 2010, पृ. 10)। श्रीविजय ने शीघ्र ही वापसी की, चीन में दूतमंडल भेजे और अपनी प्रभुत्वशाली स्थिति पुनः प्राप्त कर ली, यद्यपि आंतरिक संघर्षों के कारण वह कमज़ोर हो गया था (कुल्के, 2010, पृ. 10)। हालाँकि, इस क्षेत्र में दक्षिण भारतीय व्यापारियों का व्यापार फलता-फूलता रहा, जिसका प्रमाण पश्चिमी सुमात्रा के बारुस में मिला 1088 ई. का *अय्यावोले* व्यापारी संघ का प्रसिद्ध अभिलेख है (कुल्के, 2010, पृ. 10)। बाद में, कुलोत्तुंग I ने लगभग 1067–1068 ई. में कडारम के सिंहासन के एक दावेदार का समर्थन करने के लिए एक नौसैनिक अभियान के माध्यम से फिर से हस्तक्षेप किया, जो इस क्षेत्र के सत्ता-संघर्षों में चोलों की निरंतर भागीदारी को दर्शाता है (कुल्के, 2010, पृ. 11)।

चोल अभियानों और उसके बाद के व्यापारिक संबंधों ने दक्षिण भारत से सांस्कृतिक प्रभाव की एक नई लहर को बढ़ावा दिया, जो पूरे दक्षिण-पूर्व एशिया में फैल गई और प्रायः उसने पहले के पल्लव प्रभाव का स्थान ले लिया (कुल्के, 2010, पृ. 10)।

निष्कर्ष

चार शताब्दियों से अधिक समय तक फैले चोल काल की विशेषता राजनीतिक संगठन में मूलभूत परिवर्तन थी, जो विकेंद्रीकृत मुखियातंत्रों की व्यवस्था से एक परिष्कृत साम्राज्यवादी राज्य की ओर बढ़ा (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 208; वेलुथाट, 2017, पृ. 2)। इस राजनीतिक विकास में मूल क्षेत्र की केंद्रीकरण की प्रवृत्ति—जिसका प्रमाण एक संरचित नौकरशाही (भू-राजस्व विभाग) का उदय और कराधान की बढ़ती क्षमता है (हाइट्ज़मैन, 1995, पृ. 183)—तथा परिधीय क्षेत्रों में स्थानीय अभिजात वर्ग की स्थायी शक्ति के बीच निरंतर तनाव शामिल था, जो कुछ हद तक खंडीय राज्य प्रतिमान द्वारा प्रस्तावित अवधारणाओं की पुष्टि करता है (हाइट्ज़मैन, 1995, पृ. 192; स्टाइन, 1995, पृ. 138)।

चोल शासकों के लिए वैधता सर्वोपरि थी। उन्होंने इसे सैन्य वीरता, अपनी दैवीय उत्पत्ति का दावा करने वाली पौराणिक वंशावलियों (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 208; ओगुरा, 1999, पृ. 130) और, सबसे स्पष्ट रूप से, एक विकसित होती राजकीय मंदिर नीति (ओगुरा, 1999, पृ. 120) को एक साथ पिरोकर प्राप्त किया। यह नीति स्थानीय देवालयों और अंत्येष्टि-मंदिरों को सहायता देने से नाटकीय रूप से हटकर तंजावुर के बृहदीश्वर जैसे विशाल साम्राज्यवादी केंद्रों को वित्त-पोषित करने की ओर बढ़ी, जहाँ राजा को पवित्र और लौकिक, दोनों क्षेत्रों को नियंत्रित करने वाले एक "देव-सदृश भक्त" के रूप में प्रस्तुत किया गया (ओगुरा, 1999, पृ. 130, 131)।

चोल शक्ति का सुदृढ़ीकरण आंतरिक रूप से सैन्य सफलता से जुड़ा था। चोल राज्य निरंतर प्रभुत्ववादी विस्तार में संलग्न रहा, जो समान रूप से प्रभुत्व स्थापित करने की राजनीतिक आवश्यकता (*दिग्विजय*) और

लूट की आर्थिक अनिवार्यता से प्रेरित था (स्पेंसर, 1976, पृ. 406; कुल्के, 2010, पृ. 2)। यह दोहरी रणनीति श्रीलंका में विनाशकारी छापों और संसाधन-निष्कर्षण अभियानों (स्पेंसर, 1976, पृ. 411) तथा श्रीविजय के विरुद्ध रणनीतिक नौसैनिक अभियानों में प्रकट हुई, जिनका उद्देश्य बढ़ती एशियाई समुद्री प्रतिस्पर्धा के संदर्भ में व्यापार मार्गों को सुरक्षित करना और धन को अधिकतम करना था (कुल्के, 2010, पृ. 3)। यद्यपि कृषि संकट और स्थानीय मुखियाओं के पुनरुत्थान के कारण अंततः चोल राज्य का पतन हो गया (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 241), फिर भी सैन्य पहुँच, संस्थागत विकास और स्थापत्य संरक्षण में उसकी उपलब्धियों ने दक्षिण भारत के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास पर एक अमिट छाप छोड़ी (हाइट्ज़मैन, 1995, पृ. 194)।

संदर्भ-सूची

- हाइट्ज़मैन, जे. (1995). स्टेट फ़ॉर्मेशन इन साउथ इंडिया, 850–1280. इन एच. कुल्के (संपा.), *द स्टेट इन इंडिया, 1000–1700* (पृ. 162-194). ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- कुल्के, एच. (2001). रॉयल टेम्पल पॉलिसी एंड द स्ट्रक्चर ऑफ़ मेडिवल हिंदू किंगडम्स. इन *किंग्स एंड कल्ट्स: स्टेट फ़ॉर्मेशन एंड लेजिटिमेशन इन इंडिया एंड साउथईस्ट एशिया* (पृ. 1-16). मनोहर.
- कुल्के, एच. (2010). द नेवल एक्सपेडिशन्स ऑफ़ द चोलाज़ इन द कॉन्टेक्स्ट ऑफ़ एशियन हिस्ट्री. इन एच. कुल्के, के. केसवपाणी, और वी. सखुजा (संपा.), *नागपट्टिनम टू सुवर्णद्वीप: रिफ़्लेक्शन्स ऑन द चोला नेवल एक्सपेडिशन्स टू साउथईस्ट एशिया* (पृ. 1-19). इंस्टीट्यूट ऑफ़ साउथईस्ट एशियन स्टडीज़.
- ओगुरा, वाई. (1999). द चेंजिंग कॉन्सेप्ट ऑफ़ किंगशिप इन द चोल पीरियड: रॉयल टेम्पल कंस्ट्रक्शन्स, लगभग ई. 850–1279. इन एन. कराशिमा (संपा.), *किंगशिप इन इंडियन हिस्ट्री* (पृ. 119-138). मनोहर.
- स्पेंसर, जी. डब्ल्यू. (1976). द पॉलिटिक्स ऑफ़ प्लंडर: द चोलाज़ इन इलेवन्थ-सेंचुरी सीलोन. *द जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज़*, 35(3), 405–419.
- स्टाइन, बी. (1995). द सेगमेंटरी स्टेट: इंटेरिम रिफ़्लेक्शन्स. इन एच. कुल्के (संपा.), *द स्टेट इन इंडिया, 1000–1700* (पृ. 134-161). ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- सुब्बारायलु, वाई. (2012). *साउथ इंडिया अंडर द चोलाज़* (पृ. 23-34, 229-282). ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- वेलुथाट, के. (2017). द टेम्पल एंड द स्टेट इन मेडिवल साउथ इंडिया. *स्टडीज़ इन पीपल्स हिस्ट्री*, 4(1), 1–9. https:*doi.org/10.1177/2348448917693729*

इकाई II

आर्थिक संरचनाएँ और सामाजिक परिवर्तन

परिचय

यह इकाई नौवीं से तेरहवीं शताब्दी तक फैले चोल काल के दौरान हुई मूलभूत आर्थिक संरचनाओं और गहन सामाजिक परिवर्तनों का अध्ययन करती है। चोल युग तमिलनाडु में नगरीकरण के एक प्रमुख काल का प्रतिनिधित्व करता है, जो ईसवी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों के साथ मेल खाने वाले पहले चरण के बाद आया (चंपकलक्ष्मी, 1991, पृ. 48)। चौथी से आठवीं शताब्दी तक के बीच के काल ने एक महत्त्वपूर्ण संस्थागत आधार स्थापित किया, जिसकी विशेषता व्यापक कृषि विस्तार थी, और जिसने अंततः आगे होने वाले नगरीय और आर्थिक विकास के लिए आवश्यक आधार तैयार किया (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 02)।

इस इकाई के मुख्य उद्देश्य चोल कृषि आधारों के निर्माण को समझने के इर्द-गिर्द घूमते हैं। इस निर्माण में सक्रिय कृषि विस्तार शामिल था, जिसकी विशेषता नई भूमि को कृषि के अंतर्गत लाना तथा सिंचाई सुविधाओं का सफल निर्माण और उनका बेहतर उपयोग था। इस विस्तार से सीधे तौर पर स्थायी ग्रामीण बस्तियों की संख्या में वृद्धि हुई और परिणामस्वरूप ग्रामीण संसार के भीतर आंतरिक स्तरीकरण उत्पन्न हुआ, जिससे निवासियों के बीच अधिक सामाजिक विभेदीकरण हुआ (सुब्बारायलु, 2012)।

इन कृषि परिवर्तनों के साथ-साथ, नगरीकरण, मुद्रा-आधारित अर्थव्यवस्था की स्थापना और व्यापारिक गतिविधियों के बड़े पैमाने पर तीव्र होने की स्पष्ट प्रवृत्तियाँ भी थीं। इस व्यापारिक वृद्धि को प्रेरित करने वाले तंत्रों में *नगरम्* नामक विशिष्ट बाज़ार केंद्रों का विकास और शक्तिशाली व्यापारी संघों द्वारा निभाई गई निर्णायक भूमिका शामिल थी। एक केंद्रीय विषय धार्मिक केंद्रों का संस्थागत महत्त्व है: मंदिर इस परिवर्तन के मूल आधार थे, जो नगरीकरण के केंद्र-बिंदु का प्रतिनिधित्व करते थे और उन्हें पर्याप्त राजकीय संरक्षण प्राप्त होता था।

क) कृषि अर्थव्यवस्था और समाज

चोल राज्य की शक्ति और अर्थव्यवस्था की नींव बहुत हद तक एक सुदृढ़ और विस्तारशील कृषि व्यवस्था पर टिकी थी। चोलकालीन कृषि संगठन का ऐतिहासिक अध्ययन, यद्यपि पहले के आधारभूत अध्ययनों पर आधारित है, फिर भी इस बात की पुनर्व्याख्या की माँग करता है कि भूमि किस प्रकार धारण की जाती थी, उस पर खेती कैसे की जाती थी और उसका नियंत्रण कैसे होता था, विशेष रूप से ग्यारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के बीच समाज के बढ़ते स्तरीकरण को देखते हुए (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 146)।

I. मूलभूत कृषि इकाइयाँ: ऊर और नाडु

तमिल देश में सामाजिक-राजनीतिक और आर्थिक संगठन की मूलभूत इकाई गाँव थी, जिसे सामान्यतः ऊर कहा जाता था (वेलुथाट, 2000, पृ. 180)। हालाँकि, कृषि एकीकरण और शासन प्रायः *नाडु* नामक बड़ी क्षेत्रीय इकाई पर निर्भर करते थे (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 129)।

सामान्य गाँव (वेळ्ळान्वगै और ऊर)

चोल क्षेत्र के अधिकांश गाँवों को ऊर के रूप में नामित किया गया था। ये सामान्य गाँव थे, जो प्राचीन काल से अस्तित्व में थे और सामान्य सरकारी राजस्व-निर्धारण के अधीन थे। इसलिए गाँवों की इस सामान्य श्रेणी को *वेळ्ळान्वगै* कहा जाता था, जिसका शाब्दिक अर्थ है 'कृषि वाली श्रेणी' (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 125)। चोल क्षेत्र के भौगोलिक मूल भाग (चोल-मंडलम् और नडुविल-नाडु) में सामान्य गाँव सभी बस्तियों का लगभग 75% थे (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 124)।

एक विशिष्ट ऊर गाँव की सीमाओं के भीतर कई प्रमुख भौतिक घटक शामिल होते थे: आवासीय बस्तियाँ, श्मशान भूमि, पेयजल के तालाब, सिंचाई की नहरें और कृषि भूमि, साथ ही सुरक्षित चरागाह और वन-क्षेत्र (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 125)। राजराज I के दो अभिलेखों (1014 ई.) से प्राप्त विस्तृत आँकड़े उपजाऊ क्षेत्रों के गाँवों की भौतिक संरचना के बारे में जानकारी देते हैं (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 124)। गाँवों के आकार में व्यापक भिन्नता थी; लगभग एक-तिहाई गाँवों का औसत क्षेत्रफल लगभग 1.5 वर्ग किलोमीटर था, अन्य एक-तिहाई लगभग 0.75 वर्ग किलोमीटर के थे, और शेष छोटे थे, लगभग 0.25 वर्ग किलोमीटर या उससे कम (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 124)। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन गाँवों में कुल ग्राम-क्षेत्र का लगभग 95% भाग कृषि के लिए समर्पित था (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 125)।

आवासीय बस्तियों के भीतर, विभिन्न व्यावसायिक समूहों के लिए अलग-अलग रहने के क्षेत्रों के माध्यम से सामाजिक विभेदीकरण स्थानिक रूप से प्रकट होता था (कराशिमा, 2001, पृ. 46-47)। अभिलेखों में चार विशिष्ट आवासीय बस्तियों का उल्लेख किया गया है: (i) भूमिधारकों/कृषकों की बस्ती (*ऊर-इरुक्कै*), जिन्हें प्रायः *ऊरार* कहा जाता था (सुब्बारायलु, 2012); (ii) कारीगरों की बस्ती (*कम्मण-चेरि*) (सुब्बारायलु, 2012); (iii) पैरयों की बस्ती (*पैरै-चेरि*) (सुब्बारायलु, 2012); और (iv) ईळवों की बस्ती (*ईळ-चेरि*) (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 125; कराशिमा, 2001, पृ. 47)।

सामान्य कृषक गाँवों की सामुदायिक सभा को ऊरार ('ऊर के लोग') कहा जाता था (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 124)। यह तथ्य कि गाँव का सामान्य नाम ऊर था और भूमिधारकों की बस्ती *ऊर-इरुक्कै* थी, यह संकेत देता है कि मुख्य रूप से भूमिधारक कृषकों से बनी यह सभा मूलभूत महत्त्व रखती थी (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 126)। उनकी सामूहिक गतिविधियाँ लगभग पूरी तरह से भूमि संबंधी मामलों के इर्द-गिर्द घूमती थीं, जैसे संपत्ति की बिक्री या दान का प्रबंधन करना और भू-करों से छूट को संभालना (सुब्बारायलु, 2012, पृ.

126)। *वेळ्ळाळ* जाति प्रायः *ऊरार* का मूल भाग होती थी और गाँव के नाम से जुड़ी *किळान* या *उडैयान* (स्वामी) जैसी वंशानुगत भूमि-उपाधियों का प्रयोग करती थी (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 126)।

क्षेत्रीय इकाई (नाडु और नाट्टार)

गाँव के स्तर से ऊपर अधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रीय इकाई *नाडु* थी (वेलुथाट, 2000, पृ. 180)। *नाडु* मूलतः एक सूक्ष्म-क्षेत्र था, जिसे एक सामान्य सिंचाई स्रोत, जैसे तालाब या नहर, के इर्द-गिर्द संगठित ऊर गाँवों के समूह के रूप में परिभाषित किया गया था (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 129; वेलुथाट, 2000, पृ. 180)। ये कृत्रिम सरकारी रचनाएँ नहीं, बल्कि कृषक समुदायों के प्राकृतिक, स्वतःस्फूर्त समूह थे (वेलुथाट, 2000, पृ. 181)। *नाडु* के आकार में उल्लेखनीय भिन्नता थी, जो सामान्यतः 20 से 100 वर्ग किलोमीटर के बीच के क्षेत्र को कवर करता था और जिसमें एक से चालीस तक गाँव होते थे (वेलुथाट, 2000, पृ. 180; सुब्बारायलु, 2012, पृ. 129)। नौवीं शताब्दी के बाद अभिलेखों में उल्लिखित *नाडु* इकाइयों की संख्या में भारी वृद्धि को प्रायः क्रमिक कृषि विस्तार, विशेष रूप से सीमांत क्षेत्रों की ओर विस्तार, के प्रमाण के रूप में व्याख्यायित किया जाता है (वेलुथाट, 2000, पृ. 181)।

इस क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करने वाली सामूहिक संस्था को नाट्टार (या *नाट्टवर*) कहा जाता था, जिसका अर्थ है '*नाडु* के लोग' (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 129)। *नाट्टार* में मुख्य रूप से क्षेत्र के सबसे महत्त्वपूर्ण लोग—भूमिधारक, विशेष रूप से सामान्य गाँवों के *वेळ्ळाळ* भूमिधारक—शामिल होते थे, जिनका स्थानीय मामलों में पर्याप्त प्रभाव होता था (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 129; वेलुथाट, 2000, पृ. 187)। चोल राज्य द्वारा *नाडु* को मूलभूत राजस्व इकाई के रूप में मान्यता दी गई थी (वेलुथाट, 2000, पृ. 188)। राजकीय सरकार प्रशासनिक कर्तव्यों के लिए अपने अभिकर्ताओं के रूप में *नाट्टार* पर निर्भर थी (वेलुथाट, 2000, पृ. 187)। उनके प्राथमिक सरकारी कार्य में भू-करों का निर्धारण और संग्रह शामिल था, क्योंकि वे अपने विशिष्ट *नाडु* से सरकारी कर का भुगतान करने के लिए उत्तरदायी थे (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 130)। *नाट्टार* कभी-कभी अपने नियंत्रण के अधीन कृषक और कारीगर आबादी के लिए करों में कमी प्राप्त करने हेतु राजकीय अधिकारियों से बातचीत करते थे (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 130)।

चोल प्रशासन ने *वळनाडु* नामक बड़े, कृत्रिम प्रशासनिक विभाग भी बनाए, जो विद्यमान, प्राकृतिक *नाडुओं* के ऊपर आरोपित किए गए थे (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 130)। यह आरोपण, विशेषाधिकार-प्राप्त *ब्रह्मदेय* और *देवदान* बस्तियों के विस्तार के साथ, यह संकेत देता है कि चोल सरकार अपने मूल क्षेत्र के राजनीतिक भूगोल को सक्रिय रूप से संरचित कर रही थी (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 130)।

स्थानीय-स्तर से ऊपर का एकीकरण: पेरियनाट्टार

चोल मूल क्षेत्र के गहन कृषि केंद्र से बाहर स्थित शुष्क क्षेत्रों में भूमिधारकों के बीच स्थानीय-स्तर से ऊपर के एकीकरण का एक रूप उभरा (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 132)। इस संस्था को *चित्तिरमेळि-पेरियनाट्टार* (या केवल *पेरियनाट्टार*) कहा जाता था, जिसका अर्थ है 'सुंदर हल के *पेरियनाट्टार*' (सुब्बारायलु, 2012, पृ.

132)। इस नामकरण में कृषकों के रूप में उनकी सामूहिक पहचान पर बल दिया गया था (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 132)।

स्थानीय *नाट्टार* के विपरीत, *पेरियनाट्टार* एक अकेले *नाडु* से बड़े क्षेत्र को कवर करते थे और कुछ हद तक बाद के कालों के विस्तृत जातीय संगठनों की तरह कार्य करते थे (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 132)। यह समूह बहु-जातीय था, जो कृषि के साझा व्यवसाय से एकजुट था (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 132)। एक महत्त्वपूर्ण घटनाक्रम में, ब्राह्मण भूमिधारकों को भी, जो परंपरागत रूप से अधिक अलग-थलग जीवन जीते थे, अंततः *पेरियनाट्टार* में शामिल कर लिया गया (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 133)। इसके अतिरिक्त, ये बड़ी भूमिधारक संस्थाएँ कभी-कभी साझा उद्देश्यों के लिए व्यापारी संगठनों (*नगरत्तार*) के साथ एकत्र होती थीं और मिलकर कार्य करती थीं (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 133; कराशिमा, 2001, पृ. 36)। *पेरियनाट्टार* के इस विकास का पता ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य से लगाया जा सकता है और यह केंद्र सरकार द्वारा *वळनाडु* प्रशासनिक इकाइयों के निर्माण तथा पूर्व पशुपालक या सैन्य समुदायों से नए भूमिधारक समूहों के उदय जैसे कारकों से प्रभावित था (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 134-135)।

II. विशेष बस्तियाँ: ब्रह्मदेय और देवदान

कृषि समाज में विशेष, विशेषाधिकार-प्राप्त बस्तियाँ भी शामिल थीं, जो सामान्य राज्य राजस्व-निर्धारण के अधीन नहीं थीं और जिन्होंने सामाजिक-राजनीतिक एकीकरण तथा कृषि विस्तार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई (चंपकलक्ष्मी, 1991, पृ. 38)।

ब्राह्मण गाँव (ब्रह्मदेय)

लगभग 20% गाँवों को *ब्रह्मदेय* के रूप में नामित किया गया था, जिन्हें *ब्रह्मदेय-किळवर* नामक ब्राह्मणों ने बसाया था और वही उनके स्वामी थे (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 124)। ये बस्तियाँ इसलिए विशिष्ट थीं, क्योंकि सामान्य गाँवों में प्रायः पाई जाने वाली पहले की सामुदायिक प्रकृति के विपरीत, इनकी भूमि सामान्यतः आरंभ से ही व्यक्तिगत ब्राह्मणों के स्वामित्व में होती थी (कराशिमा, 2001, पृ. 41)। *ब्रह्मदेय* गाँव विशेष रूप से राजकीय आदेश द्वारा बनाए जाते थे और उन्हें राज्य का संरक्षण प्राप्त था (कराशिमा, 2001, पृ. 37)। ब्राह्मण निवासियों के पास भूमि-स्वामी (*मियाट्चि*) और कृषि-अधिकारों के प्राप्तकर्ता (*कारण्मै*), दोनों के रूप में अधिकार थे (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 147)।

ब्रह्मदेय की सामुदायिक सभा सभा थी (कराशिमा, 2001, पृ. 37)। *सभा* के सदस्य ग्राम-प्रशासन का प्रबंधन करते थे, जिसमें खेती, सिंचाई और तंजावुर मंदिर की निधियों जैसे स्रोतों से प्राप्त धन के निवेश से संबंधित मामले शामिल थे (कराशिमा, 2001, पृ. 37; हाइट्ज़मैन, 1991, पृ. 30)। चूँकि ब्राह्मण स्वयं भूमि जोतने के कार्य में संलग्न नहीं थे, इसलिए ब्राह्मण 'भूमिधारकों' और खेतों में काम करने वाले अलग 'कृषकों' के बीच एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक भेद उत्पन्न हुआ (कराशिमा, 2001, पृ. 37; सुब्बारायलु, 2012, पृ. 147)।

ब्रह्मदेय गाँव महत्त्वपूर्ण स्थानीय केंद्रों के रूप में कार्य करते थे, जिन्होंने चोल सत्ता-संरचना को आस-पास के *वेळ्ळान्वगै* गाँवों को एकीकृत और नियंत्रित करने में सहायता की (कराशिमा, 2001, पृ. 40)।

मंदिर गाँव (देवदान)

चोल शासकों ने *देवदान* गाँवों के निर्माण को सक्रिय रूप से बढ़ावा दिया, जो मंदिरों को दी गई भूमि थीं (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 148)। राजपरिवार और अन्य अभिजात वर्ग द्वारा मंदिर-निर्माण में वृद्धि (पुराने ईंट के मंदिरों को पत्थर में बदलना और नई, विशाल संरचनाओं का निर्माण) के कारण इन संस्थाओं को धन और भूमि, दोनों के दान में उल्लेखनीय वृद्धि हुई (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 148)।

आरंभ में, *कुडि-नींगा-देवदान* कहे जाने वाले कुछ अनुदानों में केवल भूमि पर देय सरकारी कर को मंदिर को हस्तांतरित किया जाता था, जिससे मूल कृषक (*कुडि*) अपना स्वामित्व बनाए रखते थे (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 148)। हालाँकि, ग्यारहवीं शताब्दी से आगे अनुदानों में अधिकतर मूल स्वामी को हटाया जाने लगा, जिससे *कुडि-नीक्कि-देवदान* अस्तित्व में आए, जो भूमि को मंदिर की पूर्ण संपत्ति बना देते थे और जिसे *तिरुनामत्तु-काणि* कहा जाता था (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 148)। इससे देवता वास्तविक भूस्वामी बन गए और उन्होंने विशाल कृषि संसाधन संचित कर लिए। इस प्रक्रिया का एक विशाल उदाहरण तंजावुर का राजराजेश्वर मंदिर है, जहाँ राजराज I ने मंदिर के रख-रखाव के लिए कावेरी डेल्टा और दूरस्थ *मंडलमों* (श्रीलंका की बस्तियों सहित) के चालीस गाँवों से संपूर्ण भू-कर (*काणिक्कडन*) आवंटित किया (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 149)।

III. कृषि स्तरीकरण और सामाजिक विभेदीकरण

ग्यारहवीं शताब्दी के दौरान सामान्य गाँवों में सामुदायिक भूमि-स्वामित्व के टूटने और उसके स्थान पर व्यक्तिगत स्वामित्व आने के परिणामस्वरूप शक्तिशाली, विभेदित भूमिधारकों (*काणियाळर*) का उदय हुआ, जो कभी-कभी पूरे गाँवों के स्वामी होते थे (कराशिमा, 2001, पृ. 58; सुब्बारायलु, 2012, पृ. 146)। इस प्रक्रिया ने ग्रामीण संसार के भीतर जटिल और स्तरित संबंध उत्पन्न किए, जिससे चोल शासन के उत्तरार्ध में स्पष्ट विभेदीकरण हुआ (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 146)।

सामाजिक पदानुक्रम और व्यावसायिक समूह

ग्राम-समाज व्यवसाय और भूमि से संबंध के आधार पर स्पष्ट रूप से व्यापक सामाजिक स्तरों में विभाजित था (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 125)।

1. **भूमिधारक और स्वामी:** सबसे ऊपर भूमि के स्वामी और नियंत्रक थे, जिन्हें सामान्यतः *काणियाळर* कहा जाता था (सुब्बारायलु, 2012)। इनमें *ऊरार* और ब्राह्मण भूमिधारक (*पेरुंगुडि* या 'बड़े' *कुडि*) शामिल थे (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 153)।

2. **कृषक काश्तकार (उळुकुडि):** भूमि के वास्तविक जोतने वाले, विशेष रूप से मंदिरों और *ब्रह्मदेय* बस्तियों की बड़ी जागीरों पर, बारहवीं शताब्दी की अंतिम चौथाई में संगठित एकजुटता समूहों के रूप में प्रमुखता से उभरे (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 153)। उन्हें प्रायः *उळुकुडि-वेळ्ळाळ* (खेती करने वाले वेळ्ळाळ) या *पेरिळमैयर* कहा जाता था (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 153)।
3. **सेवा करने वाले लोग (पणिचेय्मक्कळ):** मध्य स्थान पर सेवा-कर्मी और कारीगर थे। इनमें लेखाकार, कुम्हार, संगीतकार, बुनकर, बढ़ई और लोहार शामिल थे (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 153)। वे भू-अभिजात वर्ग पर निर्भर थे (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 153)। खेती करने वाले वेळ्ळाळों द्वारा इन समूहों को सक्रिय रूप से कुछ विशेषाधिकारों से वंचित किया जाता था, जैसे बालों की चोटी रखने, समारोहों के दौरान ढोल का प्रयोग करने या पशुधन रखने का अधिकार, जो उनकी अधीनस्थ सामाजिक स्थिति की पुष्टि करता है (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 153)।
4. **कृषि श्रमिक:** *परैय* समुदाय, जिसकी विशिष्ट आवासीय बस्तियों (*परै-चेरि*) का उल्लेख अभिलेखों में मिलता है, आवश्यक कृषि श्रम प्रदान करता था (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 125)। साक्ष्यों से पता चलता है कि गाँवों में *परैयों* को सीधे भूमि की खेती के लिए नियोजित किया जाता था (कराशिमा, 2001, पृ. 48)। यह श्रम-शक्ति प्रायः दासता की स्थिति में होती थी, भूमि से बँधी हुई (*अदस्क्रिप्ती ग्लेबे*), जिसे आवागमन की स्वतंत्रता नहीं थी (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 158)। इसके अतिरिक्त, *पुलै-चेरि* (*पुलैय* समुदाय की बस्ती) जैसे निम्न समुदायों के आवासीय क्षेत्रों के स्वामी स्वयं निवासी भी नहीं थे, बल्कि उन्हें गाँव के *काणि* धारकों की संपत्ति माना जाता था (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 158)।

कृषि तनाव और श्रम का बोझ

चोल शासन का उत्तरार्ध गहराते कृषि संकटों से चिह्नित था, जिसका प्रमाण भूमिधारकों और कृषकों के बीच के संघर्ष हैं (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 153)।

लगान और कराधान: काश्तकार कृषक (*उळुकुडि*) भूमिधारकों को दो विधियों से लगान (*कडमै*) का भुगतान करते थे: (i) वार्षिक निश्चित दरें (*वरिच्चै*) या (ii) बटाई, जिसमें भूस्वामी को *मेल्वारम्* (भूस्वामी का हिस्सा) प्राप्त होता था (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 152)। कृषकों को अवैध उगाहियों, राजस्व अधिकारियों और सैनिकों के लिए विविध भुगतानों, और भूस्वामी के सरकारी कर का कुछ भाग चुकाने की माँगों के कारण भी कष्ट उठाने पड़ते थे (सुब्बारायलु, 2012)। लगान-वसूली के लिए दमनकारी उपायों का प्रयोग किया जाता था, जिनमें कभी-कभी सशस्त्र व्यक्ति (*चेवगर*) भी शामिल होते थे (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 153)।

बेगार श्रम (तेवै): विवाद का एक महत्त्वपूर्ण विषय बेगार या बलात् श्रम (*तेवै*) की माँग थी, जिसका दावा राजा या भूस्वामी करते थे (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 155)। इस अनिवार्य श्रम में शामिल थे:

1. **कोलरै:** आवश्यक सिंचाई सुविधाओं के रख-रखाव के लिए आवश्यक बँटा हुआ कार्य, जैसे पानी की नहरों से गाद निकालना और नहरों के किनारों को मज़बूत करना (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 155)।
2. **नेट्टाल:** जीर्णोद्धार परियोजनाओं के लिए माँगा जाने वाला निरंतर, बिना बँटवारे का श्रम, जो कभी-कभी राजराजपुरम के महल जैसे राजकीय कार्यों से संबंधित होता था (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 155)। अभिलेखों में कभी-कभी *नेट्टाल* की माँगों का उल्लेख किया गया है, जैसे प्रत्येक फ़सल-ऋतु के लिए कृषि भूमि की प्रत्येक विशिष्ट इकाई (*काणि*) पर एक व्यक्ति की आवश्यकता (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 155)।

सामूहिक प्रतिरोध में संलग्न होकर, कृषक ऐसे समझौते प्राप्त करने में सक्षम हुए, जैसे 1177 ई. के समझौते, जिनका उद्देश्य उनकी शिकायतों का समाधान करना था (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 151)। इन समझौतों में सशस्त्र वसूली करने वालों द्वारा मनमाने उत्पीड़न पर प्रतिबंध और कृषि भूमि के क्षेत्रफल के आधार पर *कोलरै* श्रम पर सख़्ती से सीमाएँ निर्धारित करना शामिल था (सुब्बारायलु, 2012, पृ. 151)।

ख) व्यापार, नगरीकरण और मुद्रीकरण

विस्तारित कृषि आधार से प्राप्त स्थिरता ने चोल काल के दौरान नगरीकरण और एक जटिल व्यापारिक अर्थव्यवस्था के विकास की ओर सशक्त प्रवृत्तियों को प्रेरित किया (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 2)। "द्वितीयक नगरीकरण" कहलाने वाली यह प्रक्रिया कृषि वृद्धि और संस्थागत संगठन से आंतरिक रूप से उत्पन्न हुई, जो इसे पहले के समुद्री-व्यापार-प्रेरित नगरीकरण से अलग करती है (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 38)।

I. नगरीकरण के केंद्र के रूप में मंदिर

मंदिर नगरीय स्वरूपों के विकास के लिए संरचनात्मक रूप से महत्त्वपूर्ण थे और पूरे चोल युग में निरंतर राजकीय संरक्षण का केंद्र रहे। नौवीं से बारहवीं शताब्दी के काल में नगरीय विकास मुख्य रूप से विद्यमान कृषि बस्तियों, विशेष रूप से *ब्रह्मदेय* और *देवदान* गाँवों के विस्तार पर केंद्रित था (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 51)।

विकास का संस्थागत ढाँचा

सातवीं शताब्दी से आगे मंदिरों ने अत्यधिक महत्त्व प्राप्त किया और वे ऐसे संस्थागत आधारों के रूप में विकसित हुए, जिन्होंने सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक एकीकरण को बढ़ावा दिया (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 52)। इस विकास को भक्ति विचारधारा का समर्थन प्राप्त था, जिसका लाभ उठाकर चोलों ने एकीकरण प्राप्त किया (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 54)। भूमि, स्वर्ण, धन और पशुधन के निरंतर दान प्राप्त करके मंदिर जटिल प्रशासनिक संरचनाओं वाले आर्थिक शक्ति-केंद्र बन गए, जिन्हें मंदिर-कर्मियों और काश्तकारों

का सहयोग प्राप्त था (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 54)। इन संसाधनों के संचय ने नगरीय विकास को वित्त-पोषित करने और प्रोत्साहित करने के लिए आवश्यक पूँजी प्रदान की (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 54)।

धन के इस संकेंद्रण ने मंदिर-स्थापत्य के विस्तार और विशदीकरण को आवश्यक बना दिया (चंपकलक्ष्मी, 1991, पृ. 132)। छोटे देवालय विशाल क्षैतिज परिसरों में विकसित हो गए, जिनमें परिसर-घेरे (*तिरुमडैविळागम्*) भी थे, जहाँ व्यापारियों, कारीगरों और बुनकरों सहित विविध गैर-कृषि समूहों के लिए विशिष्ट बस्तियाँ स्थापित की गईं (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 59)।

साम्राज्यवादी मंदिर: तंजावुर का राजराजेश्वर

राजराज I (985–1014 ई.) द्वारा तंजावुर में राजराजेश्वर मंदिर जैसे स्मारकीय राजकीय मंदिरों के निर्माण के कई उद्देश्य थे: चोल शासक की सर्वोच्च शक्ति का प्रदर्शन करना, शक्ति के केंद्रीकरण का प्रतीक बनना और आर्थिक गतिविधि को प्रोत्साहित करना (हाइट्ज़मैन, 1991, पृ. 27; चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 61)।

राजा ने अपने परिवार और उच्च पदस्थ दरबारियों के साथ शानदार स्थापना-दान दिए (हाइट्ज़मैन, 1991)। अकेले राजराज I ने 38,604 *कळंजु* स्वर्ण और 48,000 *कळंजु* चाँदी दान की, जो प्रायः युद्ध की लूट से प्राप्त होती थी (हाइट्ज़मैन, 1991, पृ. 29)। धन के इस विशाल हस्तांतरण ने मंदिर के स्थायी संचालन की आधारभूत संरचना, अर्थात् लेन-देन तंत्र, की स्थापना की, जिसका संचयी आर्थिक मूल्य एक बार के दानों से कहीं अधिक था (हाइट्ज़मैन, 1991)। इस तंत्र ने साम्राज्यवादी केंद्र को स्थायी रूप से 369 विभिन्न स्थानों से जोड़ा, जिनमें से अधिकांश चोल मूल क्षेत्र (*चोलमंडलम्*) में थे (हाइट्ज़मैन, 1991, पृ. 35)।

लेन-देन तंत्र निरंतर संसाधन-संचलन और कर्मचारियों की सहायता के लिए सात घटकों पर निर्भर था (हाइट्ज़मैन, 1991, पृ. 30–32):

1. **तेल की आपूर्ति:** गाँवों में व्यक्तियों या समूहों के पास पशुधन (गायें, भेड़ें, भैंसें) जमा करके इसकी गारंटी दी जाती थी, जिन्हें फिर दीपों और नैवेद्य के लिए निश्चित मात्रा में तेल की आपूर्ति करनी होती थी (हाइट्ज़मैन, 1991)। राजराज I ने स्वयं लगभग 40% पशुओं की आपूर्ति की, जिनकी कुल संख्या 1,623 गायें, 2,563 भेड़ें और 40 भैंसें थी (हाइट्ज़मैन, 1991)। यह लेन-देन परिधीय क्षेत्रों की पशुपालक अर्थव्यवस्था से आवश्यक दुग्ध उत्पादों के छोटे परंतु महत्त्वपूर्ण आगमन का प्रतिनिधित्व करता था (हाइट्ज़मैन, 1991)।
2. **धन की जमा राशि:** उच्च पदस्थ अधिकारियों, सैन्य समूहों और मंदिर के कोषागार ने स्वर्ण मुद्रा (*काशु*) ब्राह्मण सभाओं (*सभै*) के पास जमा की (हाइट्ज़मैन, 1991)। ये *सभै* उस धन का निवेश करने और मंदिर को नकद या कृषि उपज के रूप में वार्षिक प्रतिफल (सामान्यतः 12.5%) लौटाने के लिए उत्तरदायी थीं (हाइट्ज़मैन, 1991)। इस प्रकार कम से कम 9,097 *काशु* जमा किए गए थे (हाइट्ज़मैन, 1991)।

3. **मंदिर-कर्मी (नर्तकियाँ):** 398 मंदिर-नर्तकियाँ (*तळिच्चेरि पेण्डुकळ*) पूरे चोल राज्य के छोटे मंदिरों से लाई गईं और उन्हें भूमि के ऐसे आवंटन से सहायता दी गई, जिससे प्रति हिस्सा 100 *कलम* धान प्राप्त होता था (हाइट्ज़मैन, 1991)।
4. **सेवा-कर्मी:** संगीतकारों, दर्ज़ियों, कुम्हारों और लेखाकारों सहित इस बड़े सहायक कर्मचारी वर्ग को धान के अलग-अलग हिस्सों से सहायता दी जाती थी, जिसका कुल दर्ज व्यय प्रतिवर्ष 20,000 *कलम* से अधिक था (हाइट्ज़मैन, 1991)।
5. **अनुष्ठानिक और प्रशासनिक विशेषज्ञ:** ब्राह्मणों और कोषाध्यक्षों सहित इन कर्मियों को भी वार्षिक वृत्ति मिलती थी, जो प्रायः *ब्रह्मदेयम्* बस्तियों से प्राप्त होती थी (हाइट्ज़मैन, 1991, पृ. 32)।
6. **पहरेदार:** ग्राम-सभाओं (*सभै* और *ऊरार*) को मंदिर में पहरेदार (*तिरुमेय्क्काप्पार्कळ*) भेजने होते थे। इन व्यक्तियों को प्रति हिस्सा प्रतिवर्ष 100 *कलम* धान मिलता था (हाइट्ज़मैन, 1991, पृ. 32)।
7. **कर-राजस्व का आवंटन:** राजा ने मंदिर को पर्याप्त भू-कर (*कडमै*) आवंटित किए। कृषि गाँव (ऊर) यह कर वस्तु (धान) के रूप में देते थे, जबकि व्यापारिक समुदाय (*नगरम्*) स्वर्ण में भुगतान करते थे (हाइट्ज़मैन, 1991, पृ. 32)। आवंटित वार्षिक कर-आय 1,53,000 *कलम* धान और 2,500 से अधिक स्वर्ण *कळंजु* से अधिक थी (हाइट्ज़मैन, 1991, पृ. 33)। केवल ये आवंटित कर-राजस्व ही मंदिर-कर्मियों के सभी ज्ञात व्ययों को पूरा करने के लिए पर्याप्त थे (हाइट्ज़मैन, 1991, पृ. 33)।

भौगोलिक और राजनीतिक निहितार्थ: लेन-देन तंत्र कावेरी डेल्टा के शीर्ष के निकट पळैयारु के आस-पास अत्यधिक संकेंद्रित था, जो वहाँ की गहन सिंचित धान की खेती को दर्शाता है, जो संसाधनों का सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत थी (हाइट्ज़मैन, 1991, पृ. 48)। इससे यह संकेत मिलता है कि तंजावुर नहीं, बल्कि पळैयारु राज्य का वास्तविक अनुष्ठानिक और आर्थिक केंद्र था (हाइट्ज़मैन, 1991, पृ. 48)। तंजावुर स्वयं तंत्र के मूल भाग से अलग था और केंद्रीयता के प्रतीक के रूप में कार्य करता था (हाइट्ज़मैन, 1991, पृ. 48)। वहाँ विशाल मंदिर का निर्माण डेल्टा की दक्षिणी परिधि पर आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने और दक्षिण के पूर्व पांड्य क्षेत्र पर चोल स्वामित्व की घोषणा करने वाले सीमा-चिह्न के रूप में कार्य करने के लिए एक रणनीतिक निर्णय रहा होगा (हाइट्ज़मैन, 1991, पृ. 49)।

इस तंत्र ने परिधीय क्षेत्रों को एकीकृत करने में भी सहायता की: दक्षिण-पूर्व (तिरुत्तुरैप्पूंडि क्षेत्र), जहाँ जल-आपूर्ति अनियमित थी, ने गहन रूप से भाग लिया, जिससे यह संकेत मिलता है कि मंदिर इस पिछड़े क्षेत्र में निवेश और कृषि विकास को प्रोत्साहित करने का एक तंत्र था (हाइट्ज़मैन, 1991, पृ. 45)। शुष्क दक्षिण-पश्चिम में, जहाँ पशुपालक अर्थव्यवस्था का प्रभुत्व था, मंदिर ने पशुओं के हस्तांतरण के माध्यम से अनुष्ठानिक सत्ता स्थापित की (हाइट्ज़मैन, 1991, पृ. 45)।

II. व्यापार, मुद्रीकरण और व्यापारिक संस्थाएँ

कृषि संसाधनों के कुशल संचलन और मंदिर-परिसरों में संचित पूँजी ने व्यापारिक गतिविधियों के तीव्र होने और अंततः मुद्रा-आधारित अर्थव्यवस्था के उदय के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ प्रदान कीं (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 50)।

मुद्रीकरण और मानकीकरण

यद्यपि प्रारंभिक विनिमय बहुत हद तक वस्तु-विनिमय और निर्वाह-वस्तुओं के स्थानीय आदान-प्रदान (*नोडुत्तल*) पर निर्भर था (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 102), फिर भी विनिमय के माध्यम के रूप में धन का प्रयोग सामान्यतः बड़े लेन-देन और लंबी दूरी के व्यापार में, विशेष रूप से घुमंतू व्यापारियों द्वारा, किया जाता था (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 54)। साम्राज्यवादी मंदिरों के लेन-देन तंत्र के तीव्र होने से व्यापारिक और मौद्रिक क्षेत्र राजसत्ता के प्रत्यक्ष नियमन के अंतर्गत आ गए (हाइट्ज़मैन, 1991, पृ. 35)। इसके परिणामस्वरूप वस्तुओं का मानकीकरण हुआ और निश्चित मुद्रा-समतुल्य स्थापित हुए (हाइट्ज़मैन, 1991, पृ. 35)।

अभिलेखीय संदर्भों से पता चलता है कि मंदिर को हस्तांतरित सभी प्रमुख वस्तुओं के लिए मानक मुद्रा-समतुल्य (*काशु*) निर्धारित किए गए थे, जिससे मूल राज्य के भीतर संसाधनों के सहज मुद्रीकरण में तेज़ी आई (हाइट्ज़मैन, 1991, पृ. 35)। चोल काल के दौरान, विशेष रूप से दसवीं शताब्दी के बाद, सिक्का-मुद्रा विनिमय का एक नियमित माध्यम बन गई (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 54)। उदाहरण के लिए, स्वर्ण *कळंजु* 2 *काशु* के बराबर था, और 2 *कलम* धान 1 *काशु* के बराबर था (हाइट्ज़मैन, 1991)। चोल टकसाल कुडमुक्कु में स्थित थी (चंपकलक्ष्मी, 1991, पृ. 54)। हालाँकि, व्यापारिक संगठन पर मुद्रीकरण का प्रभाव जटिल बना हुआ है और उसका आकलन करना कठिन है, क्योंकि पूरे उपमहाद्वीप में मुद्रीकरण कम था, और धान प्रायः विनिमय-व्यवस्था का समग्र आधार होता था (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 57)।

विशिष्ट बाज़ार केंद्र (नगरम्)

एक निर्णायक घटनाक्रम *नगरम्* नामक विशिष्ट बाज़ार केंद्रों का उदय था। *नगरम्* को एक ऐसे व्यापारिक समुदाय के रूप में परिभाषित किया गया था, जो इस कारण विशिष्ट था कि वह राजकीय सरकार को स्वर्ण में कर देता था (हाइट्ज़मैन, 1991, पृ. 32; चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 44)। ये बाज़ार केंद्र चोल शक्ति के विस्तार के साथ-साथ बढ़ते गए (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 45)।

नगरम् संगठन का प्राथमिक कार्य स्थानीय बाज़ारों को बनाए रखना और वस्तुओं के प्रवाह की निगरानी करना था, जिससे स्थानीय *नाडु* (कृषि इकाई) और घुमंतू व्यापारियों के बीच एक नियमित संपर्क स्थापित होता था (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 45)। प्रत्येक *नाडु* प्रायः अपने संबंधित *नगरम्* के लिए स्थानीय विपणन-क्षेत्र के रूप में कार्य करता था (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 60)।

नगरम् और ब्राह्मण बस्तियाँ (*ब्रह्मदेय*) चोल राज्य के लिए राजनीतिक संश्लेषण के परस्पर-निर्भर अभिकर्ताओं के रूप में कार्य करती थीं (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 45)। *नगरमों* की वृद्धि और प्रसार, विशेष रूप से दसवीं शताब्दी से, चोलों के उदय के साथ मेल खाता था (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 45)। जिन क्षेत्रों पर चोलों ने हाल ही में विजय प्राप्त की थी, जैसे कर्नाटक के कुछ भाग, कोंगु क्षेत्र (कोयंबटूर/सेलम) और आंध्र क्षेत्र, वहाँ *नगरम्* केंद्रों की संख्या में स्पष्ट वृद्धि दिखाई दी (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 46)। इससे यह संकेत मिलता है कि चोलों ने नए एकीकृत क्षेत्रों में राज्य-संश्लेषण के अभिकर्ता के रूप में *नगरम्* का रणनीतिक रूप से प्रयोग किया (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 46)।

कुछ नगरीय केंद्रों ने *मानगरम्* (एक महान या प्रतिष्ठित बाज़ार) का दर्जा प्राप्त किया (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 58)। कांचीपुरम ने, यद्यपि चोलों के अधीन वह एक गौण राजनीतिक केंद्र था, अपनी व्यापारिक प्रमुखता बनाए रखी, जिसका संकेत *कांचीमानगर* के रूप में उसके नामकरण से मिलता है (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 58)। इन नगरों और उनके आस-पास के कुछ *नगरमों* का विनिमय-संबंध राजकीय केंद्रों की व्यापारिक आवश्यकताओं की ओर उन्मुख था (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 58)।

व्यापारी संघ और संगठित व्यापार

व्यापारी संघों ने व्यापार को बढ़ावा देने, मुद्रा-आधारित अर्थव्यवस्था की पहुँच का विस्तार करने और नगरीकरण को प्रभावित करने में अनिवार्य भूमिका निभाई (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 47)। संगठित वाणिज्य मध्यकालीन दक्षिण भारत के आर्थिक जीवन का एक प्रमुख कारक था (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 47)।

सबसे प्रमुख सामूहिक व्यापारिक समुदाय अय्यावोले (या ऐनूट्टुवर, जिसका अर्थ है 'पाँच सौ') और मणिग्रामम् थे (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 48)।

1. **अय्यावोले/ऐनूट्टुवर:** कर्नाटक के ऐहोल से उत्पन्न यह घुमंतू व्यापारियों का सबसे बड़ा संगठन था (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 48)। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में कर्नाटक में चोलों के सैन्य अभियानों के बाद, अय्यावोले ने दक्षिणी कर्नाटक और तमिलनाडु के कुछ भागों में अपनी गतिविधियों का विस्तार किया और पूरे दक्षिण भारत में अपनी गतिविधियाँ फैला दीं (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 51)। वे सभी चार प्रमुख वर्णों (*चातुर्वर्ण्य-कुलोद्भवम्*) के प्रतिनिधियों से बने थे और बड़े पैमाने पर, लंबी दूरी के व्यापार पर ध्यान केंद्रित करते थे, जो प्रायः ऋणदाताओं और धार्मिक संस्थाओं के संरक्षकों के रूप में कार्य करते थे (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 54)। उनकी सामान्य प्रशस्ति प्रायः मुख्य रूप से कृषि-प्रधान संदर्भ में उनके उत्कर्ष को व्यक्त करती थी (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 54)।
2. **मणिग्रामम्:** यह व्यापारियों का एक संगठित समूह था, जो क्षेत्रीय स्तर पर कार्य करता था, परंतु बाद में उसने लंबी दूरी के व्यापारिक संबंध स्थापित किए और प्रायः अय्यावोले के साथ संपर्क में रहा (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 49)।

चोल राज्य ने व्यापार को सक्रिय रूप से बढ़ावा दिया, जैसा कि विदेशी व्यापार मिशनों को प्रोत्साहित करने, चुंगियों को समाप्त करने (*सुंगम् तविर्त्त चोल*, कुलोत्तुंग I की उपाधि) और व्यापार के नए मार्ग खोलने की राजकीय नीति में दिखाई देता है (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 52)। संघ चोलों द्वारा विजित क्षेत्रों, जिनमें कोंगु, गंग क्षेत्र, आंध्र और श्रीलंका शामिल थे, में व्यापार के संचलन को नियंत्रित करते थे (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 52)।

विशिष्ट व्यापारिक केंद्र (एरिवीरपट्टणम्)

इस काल के दौरान एक अत्यधिक विशिष्ट नगरीय रूप उभरा, जिसे *एरिवीरपट्टणम्* कहा जाता था (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 52)। ये राजकीय अधिकार-पत्रों द्वारा स्थापित व्यापारी नगर थे, जो सामान्यतः महत्त्वपूर्ण व्यापार मार्गों पर या स्थायी कृषि वाले क्षेत्रों में स्थित होते थे (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 52)। *एरिवीरपट्टणम्* प्रायः व्यापारी संस्था द्वारा माल का भंडारण करने और सामूहिक रूप से उत्पादों का वितरण करने के लिए संरक्षित नगरों के रूप में कार्य करते थे (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 52)।

इन केंद्रों के अस्तित्व से व्यापारी संगठनों की सैन्य प्रकृति प्रकट होती है (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 63)। उदाहरण के लिए, राजराज एरिवीरपट्टणम् की रक्षा *मूंडुकै महासेनै* नामक चोल सेना द्वारा की जाती थी (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 63)। संघों द्वारा सशस्त्र सैनिकों (*एरिवीर*) का प्रयोग यह दर्शाता है कि सुरक्षा और संरक्षण व्यापारिक गतिविधियों के अभिन्न अंग थे, विशेष रूप से उच्च मूल्य वाली वस्तुओं के संचलन के लिए (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 63)।

विदेशी व्यापार और वस्तुएँ

संगठित वाणिज्य की प्रेरणा न केवल आंतरिक कृषि अधिशेष से, बल्कि उल्लेखनीय रूप से दसवीं शताब्दी से आगे प्रायद्वीपीय व्यापार के पुनरुद्धार और दक्षिण एशियाई व्यापार के विस्तार से भी मिली, जिसमें दक्षिण-पूर्व एशिया और चीन के साथ समुद्री वाणिज्य शामिल था (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 47)।

व्यापार की जाने वाली प्रमुख वस्तुओं में शामिल थीं:

- **विलासिता और विदेशी वस्तुएँ:** सुगंधित पदार्थ, मसाले (विशेष रूप से काली मिर्च), घोड़े, रत्न, स्वर्ण, मोती, बहुमूल्य पत्थर और वस्त्र (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 58)। मात्रा की दृष्टि से रोमन साम्राज्य को होने वाले निर्यातों में काली मिर्च का स्थान सबसे ऊँचा था (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 58)।
- **शिल्प और निर्मित वस्तुएँ:** धातु के बर्तन, रेशम, वस्त्र (सूती, *कलिंगम्* जैसे महीन कपड़े), और कांस्य प्रतिमाएँ, जो अधिकतर मंदिरों की माँग से लाभान्वित केंद्रों में बनाई जाती थीं (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 58)। वस्त्र-उत्पादन विशेष रूप से प्रसिद्ध था, जिसके केंद्र कांचीपुरम जैसे स्थानों पर थे (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 58)।

- **कृषि वस्तुएँ:** व्यापार नगरीय क्षेत्रों में अनाज और दालों जैसी मूलभूत कृषि वस्तुओं तक भी फैला हुआ था, जो बढ़ती व्यापारिक और गैर-कृषि आबादी की वितरण आवश्यकताओं की पूर्ति करता था (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 58)।

चोल शासकों ने सचेत रूप से बंदरगाहों (जैसे नागपट्टिनम) और राजकीय केंद्रों को नियंत्रित किया और बढ़ावा दिया, ताकि व्यापार को प्रोत्साहित करने वाला एक सुदृढ़ आर्थिक और राजनीतिक जाल बनाया जा सके (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 58)।

III. नगरीय केंद्रों में सामाजिक परिवर्तन

नगरीय केंद्रों के उदय और श्रम की विशेषज्ञता ने एक सामाजिक रूप से जटिल और स्तरीकृत परिवेश का निर्माण किया (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 56)।

शिल्प-उत्पादन और कारीगर समूह

मंदिरों के विकास ने परिष्कृत शिल्प उद्योगों को बढ़ावा दिया। अनुष्ठानिक आवश्यकताओं से प्रेरित होकर कांस्य प्रतिमा-ढलाई विशेष रूप से कुंभकोणम क्षेत्र में फली-फूली। बुनाई एक अन्य प्रमुख उद्योग था, जिसका एक प्रमुख केंद्र कांचीपुरम था (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 54)। जैसे-जैसे शिल्प-उत्पादन तीव्र हुआ और व्यापारिक समूहों ने प्रमुखता प्राप्त की, कारीगरों और शिल्पकारों को अलग बस्तियों में, प्रायः मंदिर-परिसर के घेरों (*तिरुमडैविळागम्*) के भीतर, बसाया गया, जो उनके आर्थिक महत्त्व की स्वीकृति को दर्शाता है (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 57)।

कोंगुनाडु (कोयंबटूर/सेलम) जैसे कुछ शिल्प-प्रधान क्षेत्रों में, व्यापारियों ने प्रायः मंदिर-प्रबंधन का नियंत्रण अपने हाथ में ले लिया और शिल्पकारों के संरक्षकों के रूप में कार्य किया, जो इन व्यापारिक क्षेत्रों के बीच सुदृढ़ आर्थिक परस्पर-निर्भरता को दर्शाता है (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 57)।

दाहिने हाथ और बाएँ हाथ का जातीय विभाजन

व्यावसायिक विशेषज्ञता और नगरीय घनत्व के परिणामस्वरूप बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियों का अत्यधिक जटिल सामाजिक स्तरीकरण जातियों के **दाहिने हाथ (वलंगै) और बाएँ हाथ (इडंगै) गुटों** में दोहरे विभाजन के प्रमुख उदय से चिह्नित था (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 56)।

यह दोहरा विभाजन नगरीय और शिल्प केंद्रों में एक विशिष्ट सामाजिक घटनाक्रम था (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 56)। यह आर्थिक प्रगति की प्रक्रिया के साथ-साथ सामाजिक संगठन में एक संरचनात्मक नवाचार का प्रतिनिधित्व करता था (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 56)। यह स्तरीकरण क्षैतिज था, जिसमें सभी गैर-ब्राह्मण, गैर-वेळ्ळाळ व्यावसायिक समूहों (जैसे बुनकर, कृषि श्रमिक, कारीगर और निम्न सेवा-कर्मी) को इन दो व्यापक विभाजनों में रखा गया था (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 56)। कुछ समूहों की बेहतर आर्थिक स्थिति के

कारण सामाजिक गतिशीलता और उन्नत अनुष्ठानिक स्थिति के लिए प्रतिद्वंद्विता उत्पन्न हुई, जो प्रायः संघर्षों और विशेषाधिकार प्राप्त करने के प्रयासों के माध्यम से व्यक्त होती थी (चंपकलक्ष्मी, 1996, पृ. 56)। ये विभाजन इस बात का संकेत थे कि कृषि और व्यापारिक क्षेत्रों के परिपक्व होने के साथ समाज ने अधिक विभेदीकरण का अनुभव किया।

निष्कर्ष

चोलों की आर्थिक और सामाजिक संरचना कृषि व्यवस्था की गतिशीलता पर आधारित थी, जिसकी विशेषता प्रबंधित विस्तार, व्यापक सिंचाई तंत्र और ग्रामीण बस्तियों (ऊर और *नाडु*) का प्रसार थी। इस विस्तार ने सामाजिक संबंधों को मूलभूत रूप से बदल दिया और पुरानी सामुदायिक संरचनाओं से हटकर निजी स्वामित्व की व्यवस्थाओं की ओर ले गया, जिसके परिणामस्वरूप स्पष्ट विभेदीकरण हुआ और एक शक्तिशाली भूमिधारक अभिजात वर्ग का उदय हुआ (सुब्बारायलु, 2012)। परिणामी स्तरीकरण के कारण भूमिधारकों और काश्तकार कृषकों (*उळुकुडि*) के बीच तनावपूर्ण संबंध बने, जो करों और बेगार श्रम की माँगों (*कोलरै* और *नेट्टाल*) के बोझ तले दबे हुए थे (सुब्बारायलु, 2012)।

इस कृषि जीवंतता ने व्यापक नगरीकरण को सहारा देने के लिए आवश्यक अधिशेष प्रदान किया। राज्य ने विशाल राजकीय संरक्षण प्राप्त करने वाले मंदिरों (जैसे राजराजेश्वर मंदिर) को रणनीतिक रूप से नगरीय विकास के केंद्र और जटिल आर्थिक लेन-देन के केंद्रों के रूप में स्थापित किया (हाइट्ज़मैन, 1991, पृ. 29)। मंदिर के विशाल लेन-देन तंत्र ने संसाधनों के हस्तांतरण को नियंत्रित किया, लेखांकन को औपचारिक बनाया और वस्तुओं के मूल्यों का मानकीकरण किया, जिससे मुद्रा-आधारित अर्थव्यवस्था की ओर संक्रमण को गति मिली (हाइट्ज़मैन, 1991, पृ. 35)।

व्यापारिक तीव्रता का प्रबंधन विशिष्ट बाज़ार केंद्रों (*नगरम्*) और शक्तिशाली व्यापारी संघों (अय्यावोले, मणिग्रामम्) के माध्यम से किया गया, जिन्होंने स्थानीय कृषि अधिशेषों को व्यापक क्षेत्रीय और विदेशी व्यापार मार्गों से जोड़ा (चंपकलक्ष्मी, 1996)। ये व्यापारिक तंत्र, जिनकी रक्षा कभी-कभी सैन्य व्यापारिक सेनाओं (*एरिवीर*) द्वारा की जाती थी और जो मौन या स्पष्ट राजकीय समर्थन के साथ कार्य करते थे, उच्च मूल्य वाली वस्तुओं का व्यापार करते थे और उन्होंने चोलों के आर्थिक और राजनीतिक प्रभाव का विस्तार कावेरी डेल्टा के मूल क्षेत्र से बहुत आगे तक किया (चंपकलक्ष्मी, 1996)। इसका सामाजिक परिणाम विशिष्ट शिल्प-उत्पादन का विकास और पदानुक्रमित भेदों का सुदृढ़ होना था, जो विशेष रूप से नगरीय केंद्रों में बाएँ और दाहिने हाथ के दोहरे जातीय विभाजन के उदय से चिह्नित था (चंपकलक्ष्मी, 1996)। इस प्रकार चोल राज्य ने एक अत्यधिक एकीकृत व्यवस्था प्राप्त की, जिसमें कृषि संसाधन, अनुष्ठानिक संस्थाएँ और संगठित वाणिज्य घनिष्ठ रूप से परस्पर जुड़े हुए थे, जिससे एक जटिल सामाजिक-आर्थिक संरचना का निर्माण हुआ, जिसने मध्यकालीन दक्षिण भारतीय अतीत को परिभाषित किया।

संदर्भ-सूची

- चंपकलक्ष्मी, आर. (1991). द *सिटी इन इंडियन हिस्ट्री - अर्बन डेमोग्राफ़ी, सोसाइटी, एंड पॉलिटिक्स*.
- चंपकलक्ष्मी, आर. (1998). *ट्रेड, आइडियोलॉजी एंड अर्बनाइज़ेशन: साउथ इंडिया 300 बीसी टू एडी 1300*. ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- हाइट्ज़मैन, जे. (1991). रिचुअल पॉलिटी एंड इकोनॉमी: द ट्रांज़ैक्शनल नेटवर्क ऑफ़ एन इम्पीरियल टेम्पल इन मेडिवल साउथ इंडिया. *जर्नल ऑफ़ द इकोनॉमिक एंड सोशल हिस्ट्री ऑफ़ द ओरिएंट*, *34*(1/2), 23–54.
- कराशिमा, एन. (2001). इंटीग्रेशन ऑफ़ सोसाइटी. इन *हिस्ट्री एंड सोसाइटी इन साउथ इंडिया: द चोलाज़ टू विजयनगर, यूनिवर्सिटी प्रेस* (पृ. 36–66).
- सुब्बारायलु, वाई. (2012). लैंडहोल्डर्स, कल्टीवेटर्स, एंड स्लेव्स. इन *साउथ इंडिया अंडर द चोलाज़* (पृ. 146–166). ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- सुब्बारायलु, वाई. (2012). ऊरार, नाट्टार, एंड पेरियनाट्टार. इन *साउथ इंडिया अंडर द चोलाज़* (पृ. 124–135). ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- वेलुथाट, के. (2000). द रोल ऑफ़ नाडु इन द सोशियो-पॉलिटिकल स्ट्रक्चर ऑफ़ साउथ इंडिया (लगभग एडी 600-1200). इन डी. एन. झा (संपा.), द *फ़्यूडल ऑर्डर: स्टेट, सोसाइटी एंड आइडियोलॉजी इन अर्ली मेडिवल इंडिया* (पृ. 179–196). मनोहर.

इकाई III

दृश्य संस्कृति और लैंगिक भूमिका

परिचय

चोल राजवंश इतिहास में दक्षिण भारत के सबसे लंबे समय तक चलने वाले साम्राज्यवादी वंशों में से एक के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, जिसने लगभग चार सौ वर्षों तक शासन किया। चोल राज्य के उत्थान और विस्तार में सुदृढ़ीकरण की जटिल प्रक्रियाएँ शामिल थीं, जिनके लिए नियंत्रण बनाए रखने हेतु मज़बूत वैधता-संरचनाओं की आवश्यकता थी। इस शक्तिशाली साम्राज्य के अध्ययन में केंद्रीय सम्राटों और अभिजात वर्ग से आगे बढ़कर राज्य के भीतर शक्ति के विविध स्रोतों की जाँच की जानी चाहिए, जिनमें मंदिर, कृषक, व्यापारी और महिलाएँ शामिल हैं।

यह इकाई विशेष रूप से इस बात का विश्लेषण करती है कि चोल राज्य ने शक्ति को अभिव्यक्त करने और समाज के भीतर भूमिकाओं को परिभाषित करने के लिए दृश्य संस्कृति—जिसे यहाँ स्मारकीय मंदिरों, प्रतिमा-कार्यक्रमों, पवित्र कांस्य प्रतिमाओं और उनके साथ अंकित अभिलेखों के रूप में परिभाषित किया गया है—का किस प्रकार उपयोग किया। इसका उद्देश्य यह स्थापित करना है कि राजकीय मंदिरों और उनके प्रतिमा-कार्यक्रम ने किस प्रकार एक सशक्त राजकीय छवि का निर्माण किया और राज्य के लिए एक सशक्त दृश्य पाठ के रूप में कार्य किया। साथ ही, हम इस दृश्य और राजनीतिक व्यवस्था में महिलाओं की प्रायः कम आँकी गई, परंतु अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका की जाँच करते हैं और मंदिर-संरक्षण जैसी धार्मिक गतिविधियों के माध्यम से उनकी कर्तृत्व-शक्ति (एजेंसी) को प्रदर्शित करते हैं।

मंदिर केवल धार्मिक स्थान से कहीं अधिक थे; वे प्रारंभिक मध्यकालीन दक्षिण भारत में पवित्र, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थान को संगठित करने के केंद्रीय तंत्र के रूप में कार्य करते थे (चंपकलक्ष्मी, 2011b, पृ. 553)। इन संरचनाओं में अंतर्निहित भौतिक साक्ष्यों की जाँच करके, हम समझ सकते हैं कि चोल राजतंत्र ने किस प्रकार अनुष्ठानिक संप्रभुता को राजनीतिक संप्रभुता के साथ जोड़ दिया, जिससे उनकी स्मारकीय परियोजनाओं में ये दोनों क्षेत्र अविभाज्य हो गए (चंपकलक्ष्मी, 2011b, पृ. 554; 2011a, पृ. 509)। यह एकीकृत दृष्टिकोण विद्यार्थियों को चोल साम्राज्यवादी संरचना के भीतर कला, शक्ति और लिंग के परिष्कृत अंतर्संबंध के साथ आलोचनात्मक रूप से जुड़ने में सक्षम बनाता है।

क) चोल साम्राज्य में महिलाएँ और उनकी भूमिका

चोल साम्राज्य के भीतर महिलाओं की भूमिकाओं और कर्तृत्व-शक्ति से संबंधित ऐतिहासिक साक्ष्य बहुत हद तक जाँची गई स्रोत-सामग्री के प्रकार पर निर्भर करते हैं। जहाँ आधिकारिक राजकीय अभिलेख प्रायः केवल सीमित या अप्रत्यक्ष मान्यता प्रदान करते थे, वहीं स्थानीय मंदिर-अभिलेख यह प्रकट करते हैं कि

महिलाओं, विशेष रूप से शासक परिवारों से जुड़ी महिलाओं ने अपनी राजनीतिक और सामाजिक स्थिति को स्थापित करने के लिए धार्मिक संरक्षण का एक सशक्त साधन के रूप में उपयोग किया (ऑर, 2016, पृ. 409)।

आधिकारिक इतिहास की चुनौती: वंशावलियों की चुप्पी

चोल राजवंश के औपचारिक अभिलेखों में, विशेष रूप से ताम्रपत्र-अनुदानों से पहले आने वाली संस्कृत वंशावलियों में, राजपरिवार की महिलाओं का उल्लेख बहुत कम मिलता है (ऑर, 2016, पृ. 409)। जब उनका उल्लेख होता भी है, तो वह मुख्य रूप से प्रसंगवश होता है, जो राजकीय दानों को मान्य करने के लिए पल्लव और चोल राजाओं की वंशावलियों से पहले आता है (ऑर, 2016, पृ. 409)। यह प्रथा संकेत देती है कि राजवंशीय उपलब्धियों पर केंद्रित आधिकारिक आख्यानों में महिलाओं की दृश्यता प्रायः अनुदान या पुरुष वंश की वैधता स्थापित करने की आवश्यकताओं की तुलना में गौण थी (ऑर, 2016, पृ. 409)।

हालाँकि, मंदिर-संदर्भों में मिले स्थानीय अभिलेख यह प्रदर्शित करते हैं कि अनेक महिलाएँ, विशेष रूप से मुखिया-रानियाँ और स्थानीय राजपरिवार की महिलाएँ, महत्त्वपूर्ण संरक्षिकाएँ और दानदात्री थीं (ऑर, 2016, पृ. 409)। इन महिलाओं ने अपनी पहचान, अपने पारिवारिक संबंधों, अपनी धार्मिक भक्ति और अपने राजनीतिक संबंधों के विवरण दर्ज करने के लिए जानबूझकर मंदिर-परिवेश की स्थायित्व और सार्वजनिक प्रकृति का उपयोग किया (ऑर, 2016, पृ. 389, 413)। उनके कार्य यह संकेत देते हैं कि, विशेष रूप से स्थानीय क्षेत्र में, उन्हें पर्याप्त कर्तृत्व-शक्ति प्राप्त थी (ऑर, 2016, पृ. 417)।

साम्राज्यवादी रानी का अभिलेखीय व्यक्तित्व: सेम्बियन महादेवी

एक ऐसी व्यक्तित्व, जिसका इतिहास लगभग पूरी तरह से दृश्य और अभिलेखीय अभिलेखों के माध्यम से पुनर्निर्मित किया गया है, सेम्बियन महादेवी हैं (केन, 2019, पृ. 29)। वह दसवीं शताब्दी की एक प्रमुख रानी थीं, जिन्हें चोल राजाओं की पत्नी और माता के रूप में जाना जाता है (केन, 2019, पृ. 29)। आज इतिहासकार सर्वसम्मति से उन्हें मध्यकालीन दक्षिण भारत की महानतम ऐतिहासिक हस्तियों में से एक मानते हैं, और यह स्थान उन्होंने मुख्य रूप से तमिल शैव धर्म के पवित्र स्थलों के प्रभावशाली संरक्षण के माध्यम से प्राप्त किया (केन, 2019, पृ. 29)। बीसवीं शताब्दी के आरंभ से अनेक भित्ति-अभिलेखों के संग्रह के बिना, "चोल वंश की राजमाता" का अस्तित्व और नियति संभवतः अज्ञात ही रह जाती (केन, 2019, पृ. 29)।

सेम्बियन महादेवी की सक्रियता की अवधि उल्लेखनीय थी, जो साठ वर्षों से अधिक तक फैली हुई थी (केन, 2019, पृ. 38)। उनका धार्मिक कार्यक्रम तीन प्रमुख क्षेत्रों पर केंद्रित था: शैव मंदिरों का निर्माण, उन्हें दान देना और दानों का नियमन करना (केन, 2019, पृ. 37)। उनके संरक्षण में मूल ईंट के देवालयों को

टिकाऊ पत्थर के मंदिरों में बदलने की महत्त्वाकांक्षी परियोजना शामिल थी (केन, 2019, पृ. 40-41)। उदाहरण के लिए, उन्हें तिरुवक्करै में शिवलोकम् (*शिवलोक*) मंदिर (वर्तमान चंद्रमौलीश्वर) को पत्थर में बनवाने से जोड़ा जाता है (केन, 2019, पृ. 41)। उनके दानों ने विशिष्ट अनुष्ठानों के संपादन को भी सुनिश्चित किया, जैसे *भक्ति* भजनों का पवित्र गायन (केन, 2019, पृ. 29)।

सेम्बियन महादेवी से संबंधित ऐतिहासिक अभिलेख स्रोत के रूप में अभिलेखों के उपयोग की जटिलताओं को उजागर करते हैं। लगभग एक शताब्दी तक इतिहासकारों का मानना था कि उनकी मृत्यु लगभग 1001 ई. में हुई थी, जो राजराज चोल I के 16वें वर्ष के एक तिरुवक्करै अभिलेख पर आधारित था, जिसमें उनके द्वारा बनवाए गए पत्थर के मंदिर को एक कर के हस्तांतरण का उल्लेख है (केन, 2019, पृ. 41)। हालाँकि, बाद के शोध ने पुष्टि की कि राजराज चोल I के 17वें शासन-वर्ष (लगभग मार्च 1002 ई.) का एक अन्य अभिलेख स्पष्ट रूप से उनकी जारी गतिविधि का उल्लेख करता है, जिसमें उनके द्वारा एक चाँदी की थाली के दान का विवरण है (केन, 2019, पृ. 43)। इस खोज ने पहले मानी गई मृत्यु-तिथि का खंडन किया और "गौरवशाली राजा कण्डरादित्तन की आदरणीय रानी" के रूप में उनकी स्थिति की पुष्टि की (केन, 2019, पृ. 110)।

इसके अतिरिक्त, सेम्बियन महादेवी ने शिव नटराज की प्रतिमा-विद्या में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई (कैमल, 1999, पृ. 410)। विद्वानों का सुझाव है कि उन्होंने नटराज पंथ के प्रसार में निर्णायक भूमिका निभाई और इसे चोलों के राज्य-पंथ के रूप में स्वीकार कराने के लिए सक्रिय रूप से प्रयास किया (कैमल, 1999, पृ. 410)। उनके द्वारा संरक्षित मंदिरों में पूर्ण आकार की नटराज प्रतिमाएँ प्रमुखता से स्थापित की गईं, जो राजवंश की दृश्य पहचान में उनके योगदान को दर्शाता है (कैमल, 1999, पृ. 410)। इस प्रकार पूरे कावेरी डेल्टा में उनके व्यापक संरक्षण ने धार्मिक भक्ति और राजवंश के प्रचार, दोनों के दोहरे उद्देश्य की पूर्ति की (कैमल, 1999, पृ. 410; केन, 2019, पृ. 29)।

मुखिया-रानियाँ और स्थानीय शक्ति पर मोलभाव

केंद्रीय चोल रानियों से आगे बढ़कर, अभिलेखीय साक्ष्य स्थानीय शासक परिवारों से जुड़ी महिलाओं की निरंतर शक्ति और कर्तृत्व-शक्ति को प्रकट करते हैं, जिन्हें प्रायः "मुखिया-रानियाँ" या *रेन द्यू तेरुआर* कहा जाता है (ऑर, 2016, पृ. 386)। इन महिलाओं ने धार्मिक संरक्षण का उपयोग केवल पुण्य (*पुण्य*) के लिए नहीं, बल्कि स्थानीय सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य के भीतर शक्ति और प्रतिष्ठा प्रदर्शित करने के प्राथमिक साधन के रूप में किया (ऑर, 2016, पृ. 386)। उनकी पहचान प्रायः सम्मानसूचक भाषा के माध्यम से व्यक्त की जाती थी, जो पुत्रियों, रानियों या माताओं के रूप में उनकी स्थिति पर बल देती थी (ऑर, 2016, पृ. 413)। नातेदारी संरचनाओं, विशेष रूप से मातृवंश, पर यह निर्भरता शक्ति का एक महत्त्वपूर्ण वाहक थी, विशेष रूप से उत्तराधिकार के संदर्भ में (ऑर, 2016, पृ. 408, 411)।

पुण्णियवाट्टियार: कर-अधिकार की स्थापना

पुण्णियवाट्टियार, एक मलैयमान महिला, जिनका विवाह एक वाणकोवरैयर मुखिया से हुआ था, अरगलूर में अपने कार्यों के विस्तृत सार्वजनिक अभिलेख के कारण विशिष्ट स्थान रखती हैं (ऑर, 2016, पृ. 389)। उनका अभिलेख स्पष्ट रूप से उनकी उच्च स्थिति को उजागर करता है और अपनी माता के परिवार (मलैयमान) तथा अपने वैवाहिक कुल (वाणकोवरैयर) के माध्यम से अपनी पहचान का दावा करता है (ऑर, 2016, पृ. 389-391)। उनके संरक्षण-कार्य साहसिक थे, जिनमें अरगलूर में एक छोटे पत्थर के मंदिर का निर्माण शामिल था (ऑर, 2016, पृ. 391)।

ऑर (2016, पृ. 390) स्पष्ट रूप से पुण्णियवाट्टियार द्वारा करों को माफ़ करने (*विट्टेन*) की शक्ति के दावे की चर्चा करती हैं, जो महिलाओं के लिए असामान्य था। कर-छूट घोषित करने का अधिकार सामान्यतः चोल अधिपति या स्थानीय सभा में निहित होता था, जो मंदिर के लिए करों को माफ़ करती थी (ऑर, 2016, पृ. 390)। अपने अभिलेख में इस शक्ति का दावा करके, और वर्तमान पुरुष शासक के उल्लेख को जानबूझकर छोड़कर, पुण्णियवाट्टियार ने अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता और प्रभाव का प्रदर्शन किया (ऑर, 2016, पृ. 390)। इस प्रकार उनकी धार्मिक गतिविधि उनकी व्यक्तिगत संपत्ति और शक्ति के स्पष्ट प्रदर्शन के रूप में कार्य करती थी (ऑर, 2016, पृ. 390)।

पूमाळिव: राजनीतिक विभाजनों को जोड़ना

एक वाणकोवरैयर मुखिया की पुत्री पूमाळिव का विवाह किळियूर मलैयमान परिवार के नेता इरैयूर पेरियुरायन से हुआ था (ऑर, 2016, पृ. 397)। उनका विवाह संभवतः वाणकोवरैयर और मलैयमान कुलों के बीच शत्रुता को समाप्त करने के लिए किया गया एक **रणनीतिक राजनीतिक** गठबंधन था (ऑर, 2016, पृ. 399)। अरगण्डनल्लूर के शिव मंदिर में दर्ज उनके धार्मिक योगदानों में एक तालाब के निर्माण की व्यवस्था करना, भूमि का उद्धार करना और स्थायी दान प्रदान करना शामिल था (ऑर, 2016, पृ. 397)।

पूमाळिव के अभिलेख ने उनकी स्थिति को सावधानीपूर्वक परिभाषित किया, जिसमें उन्हें वाणकोवरैयन मुखिया की पुत्री (*मगळ्*) और किळियूर चेदियरायन मुखिया की माता (*ताय्*) के रूप में पहचाना गया (ऑर, 2016, पृ. 397)। माता के रूप में उनकी स्थिति पर यह बल इसलिए महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि राजनीतिक संघर्षों का अंततः समाधान उनके पुत्र द्वारा किया गया था (ऑर, 2016, पृ. 399-401)। पूमाळिव की गतिविधियाँ यह प्रदर्शित करती हैं कि मंदिर-संरक्षण ने महिलाओं को जटिल स्थानीय राजनीतिक गतिशीलता से निपटने के लिए किस प्रकार एक मंच प्रदान किया, जिसके परिणामस्वरूप ऐसे परिणाम सामने आए, जिनके उनके वंशजों के लिए महत्त्वपूर्ण व्यक्तिगत और राजनीतिक परिणाम थे (ऑर, 2016, पृ. 399)।

काडवरायर महिलाएँ: स्मरणोत्सव और संसाधनों पर नियंत्रण

काडवरायर राजवंश से जुड़ी महिलाओं ने भी अपनी भूमिकाओं के सशक्त अभिलेखीय साक्ष्य छोड़े, जो विशेष रूप से स्मरणोत्सव और संपत्ति के प्रदर्शन पर केंद्रित थे:

1. **कोप्पेरुंजिंगन की माता:** यह रानी, जिन्हें प्रायः राजा की "गौरवशाली माता" (*नायार*) कहा जाता है, तिरुवेण्णैनल्लूर में देवी पेरियपिराट्टियार के एक मंदिर के निर्माण के लिए उत्तरदायी थीं (ऑर, 2016, पृ. 402)। उन्होंने अपनी स्थायी विरासत सुनिश्चित की और प्रतिमा उनके नाम पर (*तन् पेराल्*) स्थापित की गई (ऑर, 2016, पृ. 402)। उनकी मंदिर-निर्माण गतिविधियाँ उनके पुत्र के स्वामित्व के स्मरणोत्सव और परिवार की प्रतिष्ठा बढ़ाने से अभिन्न रूप से जुड़ी थीं (ऑर, 2016, पृ. 403)।
2. **मिट्टाण्डार नाच्चियार:** कोप्पेरुंजिंगन की पुत्री, मिट्टाण्डार नाच्चियार, तिरुवण्णामलै के विशाल शिव मंदिर की एक प्रमुख दानदात्री थीं (ऑर, 2016, पृ. 405)। 1241 से 1257 ई. तक के उनके चार अभिलेख चाँदी के बड़े बर्तनों और आभूषणों के दान का उल्लेख करते हैं (ऑर, 2016, पृ. 405)। उन्होंने अपनी उच्च स्थिति दर्ज करने के लिए निरंतर उदात्त भाषा का प्रयोग किया, जो मूल्यवान संसाधनों पर उनके स्पष्ट नियंत्रण को प्रदर्शित करता है (ऑर, 2016, पृ. 405-406)। पुण्णियवाट्टियार की तरह, उनके अभिलेखों में दर्ज उच्च स्थिति और प्रतिष्ठा अंततः उनकी माता, कोप्पेरुंजिंगन की रानी, से प्राप्त हुई थी (ऑर, 2016, पृ. 406-407)।

निष्कर्ष रूप में, महिलाओं के लिए, विशेष रूप से स्थानीय या क्षेत्रीय राजकीय पदों पर आसीन महिलाओं के लिए, मंदिर-संरक्षण एक सहायक गतिविधि से कहीं अधिक था (ऑर, 2016, पृ. 413)। उनके दान, निर्माण-प्रयास और अक्षय-निधियाँ शक्ति, संपत्ति और रणनीतिक नातेदारी संबंधों के सार्वजनिक प्रदर्शन थे, जो यह सिद्ध करते हैं कि वे चोल साम्राज्य की राजनीतिक और धार्मिक संरचनाओं के भीतर सक्रिय कर्ता थीं (ऑर, 2016, पृ. 413, 417)।

ख) धार्मिक और राजनीतिक प्रतीकवाद

चोल साम्राज्य ने अपनी राजनीतिक संप्रभुता को स्थापित करने और सुदृढ़ करने के लिए धार्मिक विश्वास और भौतिक संस्कृति का सचेत रूप से उपयोग किया। इसमें मंदिर-संस्था को एक केंद्रीय समारोहिक और प्रशासनिक इकाई में बदलना और विशिष्ट प्रतिमा-विद्या को सशक्त राजनीतिक छवि के रूप में प्रयुक्त करना शामिल था (चंपकलक्ष्मी, 2011b, पृ. 553)।

समारोहिक नगर और राज्य-तंत्र के रूप में मंदिर

शक्तिशाली चोल सम्राटों, विशेष रूप से राजराज I (शासनकाल 985–1014 ई.) और उसके पुत्र राजेंद्र I के अधीन (चंपकलक्ष्मी, 2011b, पृ. 553), तंजावुर और गंगैकोंडचोलपुरम् जैसे राजकीय केंद्र स्थापित किए गए (चंपकलक्ष्मी, 2011b, पृ. 553)। इन नगरों की स्थापना संयोगवश नहीं थी; यह एक सोची-समझी राजकीय नीति का परिणाम थी, जिसका उद्देश्य पवित्र *भक्ति* केंद्रों का अनुकरण करना था (चंपकलक्ष्मी, 2011b, पृ. 553)। उदाहरण के लिए, तंजावुर का स्मारकीय राजराजेश्वर (बृहदीश्वर) मंदिर वह केंद्र-बिंदु बन गया, जिसके चारों ओर विशाल मंदिर-नगर विकसित हुआ (चंपकलक्ष्मी, 2011b, पृ. 554)।

मंदिर समाज को एकीकृत करने और चोल राजतंत्र को वैधता प्रदान करने का मुख्य साधन बन गया (चंपकलक्ष्मी, 2011b, पृ. 553)। नौवीं शताब्दी से आगे यह पवित्र, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थान को संगठित करने के केंद्रीय बिंदु के रूप में कार्य करता रहा (चंपकलक्ष्मी, 2011b, पृ. 553)। चोल शासकों ने मंदिरों का निर्माण करके, *भक्ति* भजनों के अनुष्ठानिक गायन के लिए अनुदान स्थापित करके और स्थापत्य तथा मूर्तिकला सहित मंदिर-कलाओं के विकास को बढ़ावा देकर व्यवस्थित रूप से *भक्ति* विचारधारा को अपनाया (चंपकलक्ष्मी, 2011b, पृ. 553)।

इन राजकीय मंदिरों का निर्माण स्वाभाविक रूप से राजनीतिक था:

1. **आर्थिक केंद्रीकरण:** मंदिर चोल प्रशासन में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में कार्य करता था, जो केंद्रीकरण के प्रयासों का समर्थन करता था (चंपकलक्ष्मी, 2011b, पृ. 555)। राजराज I के शासनकाल में केंद्रीकरण के उल्लेखनीय प्रयास किए गए, जिनमें व्यापक राजस्व सर्वेक्षण और स्थानीय प्रशासनिक इकाइयों (*नाडुओं*) को पुनर्परिभाषित करना शामिल था (चंपकलक्ष्मी, 2011b, पृ. 555)। तंजावुर मंदिर को पूरे राज्य के गाँवों से, जिनमें चोलमंडलम् और पांडिनाडु के गाँव शामिल थे, विशाल राजस्व प्राप्त होता था, जो पूरे राज्य को कवर करने वाली एक प्रभावशाली आर्थिक पहुँच को प्रदर्शित करता है (चंपकलक्ष्मी, 2011a, पृ. 509)।
2. **अनुष्ठानिक संप्रभुता और राजत्व:** चोल राजव्यवस्था का राजनीतिक तत्त्व अनुष्ठानिक तत्त्व के साथ मेल खाता था, अर्थात् राजनीतिक और अनुष्ठानिक संप्रभुता अविभाज्य थीं (चंपकलक्ष्मी, 2011a, पृ. 509)। इसलिए इन स्मारकीय संरचनाओं में प्रदर्शित प्रतिमा-विद्या शासक राजा की राजनीतिक प्रतिमा-विद्या थी (चंपकलक्ष्मी, 2011, पृ. 509, 376)। दैवीय और लौकिक क्षेत्रों के इस विलय को अनुष्ठानों और उत्सवों द्वारा और भी सुदृढ़ किया गया, जैसे राजराज I के जन्म-नक्षत्र (*सदैयम्*) पर नैवेद्य के लिए किए गए विशेष दान, और *राजराजेश्वरनाटक* जैसे नाटकों का मंचन (चंपकलक्ष्मी, 2011a, पृ. 509-510)।

राजनीतिक प्रभुत्व का प्रतिमा-विज्ञानीय प्रतीकवाद

शिव के कुछ प्रतिमा-रूपों की स्थापना और उनकी पुनरावृत्ति ने चोलों के सैन्य और ब्रह्मांडीय प्रभुत्व के रूपकात्मक प्रतिनिधित्व प्रदान किए।

शिव नटराज: राजवंश और विस्तार का प्रतीक

ब्रह्मांडीय नर्तक, शिव नटराज की छवि चोल राजवंश की पहचान और प्रतिष्ठा से गहराई से जुड़ गई (कैमल, 1999, पृ. 410)। चोल राजकीय संरक्षकों ने देवी-देवताओं की अनेक भव्य उत्सव-कांस्य प्रतिमाएँ (*उत्सव मूर्तियाँ*) बनवाईं, जिनकी विशेषता उनकी मुद्रा की सटीकता और पतली आकृतियाँ थीं (देहेजिया, 2006, पृ. 24)।

नटराज के नृत्य का स्थापित अर्थ सार्वभौमिक रूप से प्रतीकात्मक है: उनका नृत्य ब्रह्मांडीय चक्र पर उनके प्रभुत्व का प्रतिनिधित्व करता है, और जिस बौने (*अपस्मार*) को वे कुचलते हैं, वह अज्ञान के विनाश का प्रतीक है (कैमल, 1999, पृ. 388)। वे एक साथ ब्रह्मांड का विनाश करते हैं और आत्माओं को उनके बंधनों से मुक्त करते हैं (कैमल, 1999, पृ. 388)।

हालाँकि, दसवीं शताब्दी की अंतिम चौथाई तक, दृश्य और अभिलेखीय साक्ष्य यह संकेत देते हैं कि नटराज प्रतिमा स्पष्ट रूप से चोल राजवंश के प्रतीक के रूप में कार्य करने लगी (कैमल, 1999, पृ. 385, 410)। यह उस चोल काल के साथ मेल खाता था, जब पूरे दक्षिण भारत और पड़ोसी क्षेत्रों में उनकी प्रसिद्धि और सत्ता तेज़ी से बढ़ रही थी (कैमल, 1999, पृ. 385)।

इस विशिष्ट प्रतिमा-विद्या के उपयोग ने साम्राज्यवादी कार्यसूची की कई प्रकार से पूर्ति की:

1. **पंथीय एकीकरण:** संस्कृत ग्रंथों (*पुराणों*) के माध्यम से पूरे भारत में ज्ञात शिव के रूप, नटराज, के उपयोग ने चोलों को स्थानीय, उग्र देवताओं से दूरी बनाने में सहायता की, जिससे विविध क्षेत्रीय भू-भागों को एकीकृत करने की राजनीतिक परियोजना में सहायता मिली (कैमल, 1999, पृ. 406)।
2. **विस्तारवादी रूपक:** विद्वानों का सुझाव है कि नटराज रूप में निहित अरीय (रेडियल) संरचना का उद्देश्य संभवतः चोलों और चिदंबरम के पुरोहित समुदाय की साझा विस्तारवादी महत्त्वाकांक्षाओं को मूर्त रूप देना था (कैमल, 1999, पृ. 413)। यह दृश्य प्रतिनिधित्व इस बात का प्रतीक था कि राजा की उपस्थिति किस प्रकार तमिल भू-परिदृश्य में व्याप्त थी, ठीक वैसे ही जैसे देवता की उपस्थिति पूरे ब्रह्मांड में फैली हुई थी (कैमल, 1999, पृ. 413)।
3. **संरक्षण और प्रसार:** रानी सेम्बियन महादेवी ने अपने द्वारा संरक्षित मंदिरों में नटराज को प्रमुखता से स्थापित करके इस प्रक्रिया में सक्रिय योगदान दिया, जिससे वे इस पंथ के प्रसार और चोलों के राज्य-पंथ के रूप में इसकी स्वीकृति में निर्णायक बनीं (कैमल, 1999, पृ. 410)।

त्रिपुरांतक: योद्धा राजा और शैव प्रभुत्व

त्रिपुरांतक (असुरों के तीन नगरों के विनाशक के रूप में शिव) का चित्रण चोल मंदिरों में एक अन्य सशक्त राजनीतिक प्रतीक था (चंपकलक्ष्मी, 2011a, पृ. 506)।

1. **राजकीय स्थान में प्रभुत्व:** तंजावुर के राजराजेश्वर मंदिर में त्रिपुरांतक प्रतिमा को प्रमुख स्थान दिया गया और उसे *विमान* की दीवारों के ऊपरी तल के सभी आलों में दोहराया गया (चंपकलक्ष्मी, 2011a, पृ. 506)। इसके महत्त्व को तंजै अळगर के नाम से प्रसिद्ध एक कांस्य प्रतिमा और भीतरी प्रदक्षिणा-पथ के बड़े भित्ति-चित्र पैनलों द्वारा और भी रेखांकित किया गया (चंपकलक्ष्मी, 2011a, पृ. 506)।
2. **राज्य की विचारधारा:** त्रिपुरांतक की प्रमुखता सीधे राजराज I की राज्य-विचारधारा से संबंधित थी, जिसका शासनकाल सैन्य सफलताओं और केंद्रीकरण के प्रयासों से चिह्नित था (चंपकलक्ष्मी, 2011a, पृ. 507)। यह प्रतिमा शासक को एक योद्धा के रूप में प्रतीकित करने वाले और संप्रभुता के लिए आवश्यक साहस तथा दृढ़ संकल्प के गुणों को प्रदर्शित करने वाले एक सशक्त रूपक के रूप में कार्य करती थी (चंपकलक्ष्मी, 2011a, पृ. 507; सांकृत्यायन, 2020, पृ. 97)।
3. **धार्मिक दावा:** त्रिपुरांतक मिथक का उल्लेख *तेवारम्* भजनों में बार-बार मिलता है, जिन्हें राजराज I ने व्यवस्थित रूप से एकत्र और प्रचारित किया (चंपकलक्ष्मी, 2011a, पृ. 507)। इस प्रतिमा पर बल देकर, चोलों ने दृश्य रूप से शैव धर्म के प्रभुत्व का दावा किया और राजसत्ता को लोकप्रिय *भक्ति* परंपरा के साथ एकीकृत किया (चंपकलक्ष्मी, 2011a, पृ. 507)। यह रूप प्रतिद्वंद्वी परंपराओं, जैसे *श्रमण* (जैन और बौद्ध) परंपराओं, पर शैव धर्म की श्रेष्ठता स्थापित करने में भी महत्त्वपूर्ण था (चंपकलक्ष्मी, 2011a, पृ. 507)।

लैंगिक पहचानों को आकार देने वाली प्रतिमा-विद्या

चोल दृश्य संस्कृति ने केवल राजनीतिक शक्ति को ही अभिव्यक्त नहीं किया; इसने विशेष रूप से दिव्य युगलों और देवियों के चित्रण के माध्यम से मानक सामाजिक और लैंगिक पदानुक्रमों को सुदृढ़ करने का कार्य भी किया।

कल्याणसुंदरमूर्ति और विवाह-पदानुक्रम

शिव और पार्वती के विवाह-समारोह का प्रतिनिधित्व करने वाली कल्याणसुंदरमूर्ति का चित्रण तंजावुर के बृहदीश्वर मंदिर सहित प्रारंभिक मध्यकालीन भारतीय मंदिर-कला में सामान्य रूप से मिलता था (सिंह, 2020, पृ. 288)। यह प्रतिमा-विद्या ब्राह्मणवादी और गैर-ब्राह्मणवादी, दोनों जनसमुदायों के लिए

ब्राह्मणवादी परंपरा की सामाजिक-धार्मिक विशेषताओं की एक "सार्वजनिक घोषणा" के रूप में कार्य करती थी (सिंह, 2020, पृ. 288)।

इन चित्रणों में दृश्य भिन्नताएँ जानबूझकर रखी गई हैं: शिव को निरंतर चार भुजाओं वाले और उपस्थित अन्य सभी दिव्य प्राणियों से शारीरिक रूप से बड़े रूप में चित्रित किया गया है (सिंह, 2020, पृ. 286)। इसके विपरीत, पार्वती को कोमल और लजीली दिखाया गया है, जो इस पितृसत्तात्मक विचार को सुदृढ़ करता है कि पति पत्नी का "ग्रहणकर्ता और नियंत्रक" होता है (सिंह, 2020, पृ. 286, 279)। इस प्रतिमा-विद्या ने ब्राह्मणवादी विवाह की पदानुक्रमित प्रकृति को पवित्र स्थापत्य स्थान के भीतर दृश्य रूप से अंतर्निहित कर दिया (सिंह, 2020, पृ. 286)।

शिव के चरणों में काली: पितृसत्तात्मक नियंत्रण और क्षेत्रीय एकीकरण

प्रारंभिक मध्यकालीन तमिल मंदिरों में, विशेष रूप से साम्राज्यवादी विस्तार के काल के दौरान, शिव के चरणों में नृत्य करती देवी काली की छवि गहन राजनीतिक और पितृसत्तात्मक प्रतीकवाद लिए हुए थी (महालक्ष्मी, 2020, पृ. 34)।

1. **पितृसत्तात्मक व्यवस्था:** सतही स्तर पर यह नृत्य-प्रतियोगिता के पौराणिक मिथक से संबंधित है; हालाँकि, अपेक्षाकृत छोटी काली पर प्रभुत्व रखती शिव की विशाल आकृति स्त्री पर पुरुष के पितृसत्तात्मक नियंत्रण और व्यवस्था का दृश्य प्रतिनिधित्व करती है (महालक्ष्मी, 2020, पृ. 34)।
2. **क्षेत्रीय वैधता:** अधिक रणनीतिक रूप से, काली/दुर्गा प्रायः विभिन्न स्थानीय देवियों के समावेश के लिए एक सामान्य आकृति के रूप में कार्य करती थीं (महालक्ष्मी, 2020, पृ. 34)। इसलिए, काली के ऊपर शिव की विशाल आकृति की प्रतीकात्मक व्यवस्था एक ही केंद्रीय सत्ता (शिव) के अधीन इन विकेंद्रीकृत स्थानीय देवताओं और क्षेत्रों के पंथीय और क्षेत्रीय एकीकरण का प्रतिनिधित्व करती थी, जो केंद्रीकृत और विस्तारशील चोल राज्य की राजनीतिक वैधता की आवश्यकता को पूरी तरह से प्रतिबिंबित करती थी (महालक्ष्मी, 2020, पृ. 34)। इस विशिष्ट प्रतिनिधित्व का चयन सोच-समझकर और जानबूझकर किया गया था, जो साम्राज्यवादी विस्तार के राजनीतिक क्षण को दर्शाता है (महालक्ष्मी, 2020, पृ. 34)।

पूर्वज-पूजा और वंश का देवत्वीकरण

मंदिर के अनुष्ठानिक स्थान में पूर्वजों की आकृतियों को सम्मिलित करने की प्रथा के माध्यम से दैवीय और राजकीय के बीच की सीमाएँ और भी धुंधली हो गईं (चंपकलक्ष्मी, 2011a, पृ. 509)। राजराज I की बहन कुंदवै ने अपने पिता (सुंदर चोल) और उनकी रानी की प्रतिमाएँ मंदिर में स्थापित करवाईं (चंपकलक्ष्मी, 2011, पृ. 555, 372)। अभिलेखों में इन प्रतिमाओं के लिए *तिरुमेनि* ("पवित्र शरीर") शब्द का प्रयोग किया गया है, जो देवताओं के लिए प्रयुक्त होने वाला सम्मानसूचक शब्द ही है (चंपकलक्ष्मी, 2011a, पृ.

509)। मंदिर-पूजा के एक भाग के रूप में पूर्वजों की प्रतिमाएँ स्थापित करने की इस अनुष्ठानिक प्रथा ने इस विचार को रेखांकित किया कि चोल राजा ने दैवत्व के साथ लगभग पूर्ण तादात्म्य प्राप्त कर लिया था (चंपकलक्ष्मी, 2011a, पृ. 509)। यह प्रथा पहले की शताब्दियों में कुषाणों द्वारा स्थापित *देवकुलों* (पूर्वज-देवालयों) के समान है (चंपकलक्ष्मी, 2011a, पृ. 509)।

निष्कर्ष

यह इकाई इस बात की पुष्टि करती है कि चोल साम्राज्य की राजनीतिक सफलता को एक वैचारिक साधन के रूप में दृश्य संस्कृति के व्यवस्थित उपयोग से मूलभूत समर्थन प्राप्त था। तंजावुर के राजराजेश्वर मंदिर जैसी स्मारकीय संरचनाएँ अत्यधिक केंद्रीकृत समारोहिक और प्रशासनिक केंद्रों के रूप में कार्य करती थीं, जो जानबूझकर अनुष्ठानिक और राजनीतिक संप्रभुता का विलय करती थीं (चंपकलक्ष्मी, 2011b, पृ. 553; 2011a, पृ. 509)।

लैंगिक भूमिकाओं के साथ इसका अंतर्संबंध यह प्रदर्शित करता है कि जहाँ समग्र राजनीतिक प्रतीकवाद—जिसे नटराज (राजवंश के प्रतीक और ब्रह्मांडीय विस्तारक के रूप में) और त्रिपुरांतक (योद्धा राजा के रूप में) ने मूर्त रूप दिया—ने पुरुष, केंद्रीकृत सत्ता को सुदृढ़ किया (कैमल, 1999, पृ. 410; चंपकलक्ष्मी, 2011a, पृ. 506), वहीं महिलाओं ने इसी व्यवस्था का उपयोग अपनी व्यक्तिगत और पारिवारिक कर्तृत्व-शक्ति को स्थापित करने के लिए किया (ऑर, 2016, पृ. 417)। सेम्बियन महादेवी जैसी साम्राज्यवादी हस्तियों ने व्यापक संरक्षण के माध्यम से राज्य-पंथ को आकार दिया (केन, 2019, पृ. 29), जबकि शक्तिशाली मुखिया-रानियों ने अपने मंदिर-दानों के माध्यम से स्थानीय सत्ता, कर-नियंत्रण और रणनीतिक प्रभाव का प्रदर्शन किया और अपनी स्थिति का लाभ मुख्य रूप से माताओं और पुत्रियों के रूप में अपनी भूमिकाओं के माध्यम से उठाया (ऑर, 2016, पृ. 390, 408, 413)। अंततः, चोल काल के अभिलेख, संरक्षण-अभिलेख और प्रतिमा-कार्यक्रम एक ऐसे गतिशील समाज को प्रकट करते हैं, जहाँ दृश्य प्रतिनिधित्व निरंतर साम्राज्यवादी राजनीतिक सत्ता और उसके भीतर शक्तिशाली महिलाओं की सूक्ष्म भूमिकाओं, दोनों को आकार दे रहे थे और प्रतिबिंबित कर रहे थे।

संदर्भ-सूची

- केन, एन. (2019). टेम्पल्स, इंस्क्रिप्शन्स एंड हिस्टॉरिकल (री)कंस्ट्रक्शन: द "एपिग्राफ़िकल पर्सोना" ऑफ़ द चोला क्वीन सेम्बियन महादेवी (टेन्थ सेंचुरी). *बुलेटिन द लेकोल फ़्रांसेज़ द एक्सत्रेम-ओरियां, 105*, 27–60.

- चंपकलक्ष्मी, आर. (2011a). आइकोनोग्राफ़िक प्रोग्राम एंड पॉलिटिकल इमेजरी इन अर्ली मेडिवल तमिलकम: द राजसिंहेश्वर एंड द राजराजेश्वर. इन *रिलिजन, ट्रेडिशन, एंड आइडियोलॉजी: प्री-कोलोनियल साउथ इंडिया* (पृ. 495–514). ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- चंपकलक्ष्मी, आर. (2011b). तंजावुर, द सेरेमोनियल सिटी ऑफ़ द चोलाज़. इन *रिलिजन, ट्रेडिशन, एंड आइडियोलॉजी: प्री-कोलोनियल साउथ इंडिया* (पृ. 552–565). ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- देहेजिया, वी. (2006). *चोला: सेक्रेड ब्रॉन्ज़ेज़ ऑफ़ सदर्न इंडिया*. रॉयल अकादमी ऑफ़ आर्ट्स.
- कैमल, पी. (1999). शिवा नटराज: शिफ़्टिंग मीनिंग्स ऑफ़ एन आइकन. द *आर्ट बुलेटिन, 81*(3), 390–419.
- महालक्ष्मी, आर. (2020). विज़ुअल रिप्रेज़ेंटेशन्स ऐज़ हिस्टॉरिकल सोर्स इन एंशिएंट एंड अर्ली मेडिवल इंडिया: एन इंट्रोडक्शन. इन आर. महालक्ष्मी (संपा.), *आर्ट एंड हिस्ट्री: टेक्स्ट्स, कॉन्टेक्स्ट्स एंड विज़ुअल रिप्रेज़ेंटेशन्स इन एंशिएंट एंड अर्ली मेडिवल इंडिया* (पृ. xxxi–xliii). ब्लूम्सबरी पब्लिशिंग इंडिया.
- ऑर, एल. सी. (2016). चीफ़ली क्वीन्स: लोकल रॉयल विमेन ऐज़ टेम्पल पैट्रन्स इन द लेट चोल पीरियड. इन ई. फ़्रांसिस और सी. शिमड (संपा.), द *आर्कियोलॉजी ऑफ़ भक्ति II: रॉयल भक्ति, लोकल भक्ति* (पृ. 385–422). इंस्टीट्यूट फ़्रांसे द पोंडिशेरी / एकोल फ़्रांसेज़ द एक्सत्रेम-ओरियां.
- सांकृत्यायन, एन. के. (2020). एम्ब्लेम्स ऑफ़ फ़ेथ, मॉन्यूमेंट्स ऑफ़ अथॉरिटी: ब्राह्मणिकल आइकोनोग्राफ़ी इन द टेम्पल्स ऑफ़ द चालुक्याज़ ऑफ़ बादामी. इन आर. महालक्ष्मी (संपा.), *आर्ट एंड हिस्ट्री: टेक्स्ट्स, कॉन्टेक्स्ट्स एंड विज़ुअल रिप्रेज़ेंटेशन्स इन एंशिएंट एंड अर्ली मेडिवल इंडिया* (पृ. 81–104). ब्लूम्सबरी पब्लिशिंग इंडिया.
- सिंह, एन. (2020). द मैरिज राइट ऑफ़ शिव-पार्वती: स्पेसिमेन्स ऑफ़ अर्ली मेडिवल इंडियन टेम्पल आर्ट. इन आर. महालक्ष्मी (संपा.), *आर्ट एंड हिस्ट्री: टेक्स्ट्स, कॉन्टेक्स्ट्स एंड विज़ुअल रिप्रेज़ेंटेशन्स इन एंशिएंट एंड अर्ली मेडिवल इंडिया* (पृ. 276–292). ब्लूम्सबरी पब्लिशिंग इंडिया.
- यादव, एम. (2020). प्रज्ञापारमिता: द मेकिंग ऑफ़ द फ़र्स्ट बुद्धिस्ट गॉडेस. इन आर. महालक्ष्मी (संपा.), *आर्ट एंड हिस्ट्री: टेक्स्ट्स, कॉन्टेक्स्ट्स एंड विज़ुअल रिप्रेज़ेंटेशन्स इन एंशिएंट एंड अर्ली मेडिवल इंडिया* (पृ. 156–175). ब्लूम्सबरी पब्लिशिंग इंडिया.

इकाई IV

युद्ध और अंतर-सांस्कृतिक संपर्क

परिचय

लगभग चार शताब्दियों तक फैले चोल काल की विशेषता आक्रामक राजनीतिक और आर्थिक विस्तार थी। यह पाठ्यक्रम महासागरीय संसार में चोलों की विस्तारवादी नीति को उजागर करने का लक्ष्य रखता है। चोल साम्राज्य का उदय लगभग 1000 ई. के एक निर्णायक समय के साथ हुआ, जिसमें एशियाई समुद्री व्यापार की संरचना में उल्लेखनीय परिवर्तन देखा गया (मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 168)। एम्पोरिया-पूर्व व्यापार संरचना, जिसमें वस्तुएँ सीधे स्रोत से अंतिम क्रेता तक भेजी जाती थीं, एम्पोरिया (व्यापारिक केंद्र) व्यापार के एक नए प्रतिरूप में बदल गई (मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 168)। इस नई व्यापार व्यवस्था में पुनर्निर्यात, बड़े माल को छोटे भागों में बाँटना और विभिन्न बंदरगाहों की विविध माँगों के अनुसार माल को छाँटना शामिल था (मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 168)। इस संरचनात्मक परिवर्तन ने, चोल साम्राज्य जैसी शक्तिशाली क्षेत्रीय शक्तियों के उदय के साथ मिलकर, लंबी दूरी के व्यापार को तीव्र किया, जिससे चोलों की राजनीतिक और सांस्कृतिक पहुँच भारतीय प्रायद्वीप से बहुत आगे तक फैल गई (मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 169; देवरे, 2009, पृ. 179)।

हिंद महासागर में चोलों का विस्तार, विशेष रूप से राजराज I (984–1014 ई.) और राजेंद्र चोल I (1014–1044 ई.) के अधीन, सैन्य महत्त्वाकांक्षा, कुशल कूटनीति और आक्रामक व्यापारिक नीतियों पर आधारित था (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 77)। यह इकाई इस बात का अध्ययन करेगी कि चोलों ने किस प्रकार श्रीलंका और दक्षिण-पूर्व एशिया के प्रमुख नौसैनिक अभियानों के माध्यम से युद्ध को परिष्कृत कूटनीति के साथ, मुख्य रूप से चीन भेजे गए व्यापार-मिशनों के माध्यम से, जोड़ा (मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 176; देहेजिया, 2006, पृ. 169)। इसके अतिरिक्त, यह इस बात की जाँच करती है कि इस सैन्य और व्यापारिक ताने-बाने ने किस प्रकार गहन अंतर-सांस्कृतिक संपर्कों के माध्यम के रूप में कार्य किया, जिससे पूरे दक्षिण-पूर्व और पूर्वी एशिया में दक्षिण भारतीय कलाओं, धर्म और सामाजिक प्रथाओं का व्यापक प्रभाव पड़ा (देवरे, 2009, पृ. 185)।

क) कूटनीतिक और युद्ध संबंधी रणनीतियाँ

चोल राजाओं, विशेष रूप से राजराज I और राजेंद्र चोल I, ने एक ऐसी सैन्य समुद्री क्षमता के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया, जो भारत के सभ्यतागत इतिहास में अभूतपूर्व थी (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 76)। यह श्रेष्ठता स्थल पर युद्ध, रणनीतिक द्वीपों पर विजय और विशाल नौसैनिक अभियानों को मिलाकर बनी रणनीति के माध्यम से स्थापित की गई (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 76)।

साम्राज्यवादी विस्तार और समुद्री श्रेष्ठता

चोल समुद्री प्रभुत्व की नींव भारत के भीतर सैन्य अभियानों की एक श्रृंखला के माध्यम से रखी गई, जो सिंधु-गंगा के मैदानों तक फैले, जिनमें चेर राज्यों को पराजित किया गया और दक्कन पठार के महत्त्वपूर्ण गढ़ों पर अधिकार किया गया (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 76, 77)। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि चोलों ने अरब सागर की ओर पश्चिमी विस्तार किया और लक्षद्वीप तथा मालदीव द्वीपसमूहों पर अधिकार कर लिया, जो प्राचीन हिंद महासागर व्यापार मार्गों पर रणनीतिक रूप से स्थित द्वीप थे (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 77)।

साथ ही, चोलों ने सीलोन (श्रीलंका) में दक्षिण की ओर लगातार आक्रमण किए और विभिन्न सिंहली राज्यों पर हमले किए (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 77)। दसवीं शताब्दी के आरंभ से श्रीलंका में हुए इन प्रारंभिक सैन्य अभियानों में चोल राजाओं को अपने योद्धाओं को पाक जलडमरूमध्य या मन्नार की खाड़ी के पार ले जाना पड़ता था, जिनकी दूरी 50 से 150 किलोमीटर के बीच थी (सुब्बारायलु, 2009, पृ. 91)। इसके अतिरिक्त, राजराज I द्वारा बारह हज़ार प्राचीन द्वीपों की विजय, जिन्हें सामान्यतः मालदीव के रूप में पहचाना जाता है, में लगभग 800 से 1,000 किलोमीटर तक फैला एक प्रमुख समुद्री अभियान शामिल था (सुब्बारायलु, 2009, पृ. 91)। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि जब तक राजेंद्र I ने श्रीविजय के विरुद्ध अपनी विशाल नौसेना भेजी (लगभग 1026 ई.), तब तक चोल नौसेना ऊँचे समुद्रों में लंबी दूरी की यात्रा का पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर चुकी थी (सुब्बारायलु, 2009, पृ. 91)।

दक्षिण-पूर्व एशिया के लिए नौसैनिक अभियान (1025 ई.)

वर्ष 1025 ई. राजेंद्र चोल I की शक्ति के एक अद्वितीय प्रदर्शन को चिह्नित करता है (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 77)। इस विशाल नौसैनिक आक्रमण का लक्ष्य दक्षिण-पूर्व एशिया था, विशेष रूप से सुमात्रा और मलेशिया में श्रीविजय राज्य के क्षेत्र (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 77)।

इस भव्य अभियान का विवरण तंजावुर के बड़े मंदिर में मिली 1030–1031 ई. की प्रशस्तिपरक अभिलेखों (*प्रशस्ति*) में सुरक्षित है (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 78)। इस अभिलेख में कहा गया है कि राजेंद्र I ने लहराते समुद्र के बीच अनेक जहाज़ भेजकर कडारम के राजा संग्राम-विजयोत्तुंगवर्मन को बंदी बना लिया (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 78; मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 170)। अभिलेख विजित स्थानों की सावधानीपूर्वक सूची देता है, जिनका ऐतिहासिक भूगोल संबंधी अन्वेषण किया गया है:

1. **श्रीविजय:** विस्तृत नगर, जिस पर कोलाहल के साथ अधिकार किया गया, जिसमें उसके 'युद्ध-द्वार' पर स्थित *विद्याधर तोरण* नामक मेहराब और 'रत्नजटित छोटा द्वार' शामिल था (सखुजा और

सखुजा, 2009, पृ. 78; मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 170)। श्रीविजय सुमात्रा द्वीप पर स्थित था (मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 170)।

2. **पण्णै:** जल वाले स्नान-घाटों के लिए प्रसिद्ध स्थान, जो सुमात्रा के पूर्वी भाग में स्थित था (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 78; मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 170)।
3. **मलैयूर:** जिसे प्राचीन बताया गया है और जिसकी प्राचीर के रूप में एक मज़बूत पर्वत था (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 78; मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 170)।
4. **मायिरुडिंगम्:** गहरे समुद्र से घिरा हुआ, जो खाई की तरह कार्य करता था, जिसे मलय प्रायद्वीप पर जोहोर के रूप में पहचाना गया है (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 78; मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 170)।
5. **इलंगाशोक (लंकाशोक):** भीषण युद्धों में भी निर्भीक रहने वाला स्थान (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 78; मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 170)।
6. **माप्पप्पाळम्:** प्रचुर गहरे जल से सुरक्षित स्थान, जो संभवतः मलय प्रायद्वीप पर था (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 78; मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 170)।
7. **मेविलिम्बंगम्:** जिसकी रक्षा के लिए सुंदर दीवारें बताई गई हैं (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 78)।
8. **वलैप्पंदूरु:** जिसमें विलप्पंदूरु पर अधिकार शामिल था (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 78)।
9. **तलैत्तक्कोलम्:** जिसकी प्रशंसा शास्त्रों में पारंगत महान व्यक्तियों ने की थी (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 78)।
10. **मादमालिंगम्:** महान और भीषण युद्धों में दृढ़, जो संभवतः क्रा स्थलडमरूमध्य पर स्थित था (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 78; मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 170)।
11. **इलामुरिदेशम्:** उत्तरी सुमात्रा में स्थित, जिसकी प्रचंड शक्ति युद्ध में बढ़ जाती थी (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 78; मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 170)।
12. **मानक्कवारम्:** जिसे निकोबार द्वीपों के रूप में पहचाना गया है, जो उन विस्तृत पुष्प-उद्यानों के लिए प्रसिद्ध था, जहाँ मधु एकत्र होता था (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 78; मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 170)।
13. **कडारम (केदाह/कटाह):** प्रचंड शक्ति वाला और गहरे समुद्र से सुरक्षित, जो मलय प्रायद्वीप पर पेनांग के निकट स्थित था (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 78; मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 170)।

अभिलेख में उल्लेख है कि राजेंद्र चोल I ने कडारम के राजा द्वारा संचित खज़ाने का विशाल ढेर और उसके हाथी अपने अधिकार में ले लिए (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 78; मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 170)। इस आश्चर्यजनक सफलता के कारण राजेंद्र को *कडारम कोंडान*—अर्थात् वह जिसने कडारम को जीता—की उपाधि दी गई, जिसकी कवियों ने प्रशंसा की (मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 170)। अभिलेख स्पष्ट रूप से यह संकेत देता है कि इन सभी स्थानों पर एक ही अभियान में अधिकार किया गया था (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 87)।

युद्ध और कूटनीति के कारण

1025 ई. का नौसैनिक आक्रमण चोल राजाओं द्वारा अपनाई गई एक सुसंगत और आक्रामक समुद्री व्यापारिक नीति का परिणाम था (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 77)। यद्यपि आरंभ में श्रीविजय और चोलों के बीच कूटनीतिक संपर्कों सहित मैत्रीपूर्ण संबंध थे, फिर भी संबंध बिगड़ गए (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 79; मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 172)। उदाहरण के लिए, श्रीविजय के राजाओं ने भारत में बौद्ध धर्म का समर्थन किया था और नागपट्टिनम में एक बौद्ध *चूडामणि विहार* की स्थापना की थी (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 79; देवरे, 2009, पृ. 181)।

इतिहासकार उन संबंधों के बिगड़ने के कई संभावित कारण प्रस्तुत करते हैं, जिनके परिणामस्वरूप आक्रमण हुआ:

1. **व्यापारिक प्रतिबंध और शुल्क:** एक प्रमुख तर्क यह सुझाता है कि मलक्का जलडमरूमध्य पर प्रभुत्व रखने वाले श्रीविजय राज्य ने संभवतः चीन के साथ भारतीय व्यापार का गला घोंटने या क्षेत्रीय शासकों द्वारा लगाए गए प्रतिबंधों को दरकिनार करने का प्रयास किया होगा (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 79, 80)। इस बात के परिस्थितिजन्य साक्ष्य हैं कि श्रीविजय के शासक भारी शुल्क की माँग करते थे, जैसे एक यहूदी व्यापारी जहाज़ को चीन की ओर अपनी यात्रा जारी रखने की अनुमति देने के लिए मार्ग-अधिकार के रूप में 20,000 दीनार (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 79; मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 175)। ऐसे भारी शुल्कों ने संभवतः चोल शासकों और उनका समर्थन करने वाले शक्तिशाली व्यापारी संघों को अप्रसन्न किया, जिससे 1025 ई. में आक्रमण करना आवश्यक हो गया (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 79; मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 175)।
2. **सैन्य विस्तार और सर्वोच्चता:** इस आक्रमण की व्याख्या राजराज I से विरासत में मिली पार्श्विक सैन्य विस्तार की नीति के एक स्वाभाविक और तार्किक विकास के रूप में भी की जा सकती है (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 80)। राजेंद्र चोल I भारत के भीतर और विदेशों में, दोनों जगह अपने राजनीतिक संकल्प और सर्वोच्चता का प्रदर्शन करना चाहता था (सखुजा और सखुजा,

2009, पृ. 80)। नौसैनिक आक्रमण का लक्ष्य प्रभुत्वशाली प्रतिद्वंद्वी, श्रीविजय के राजा थे, जिनके बारे में यह माना जाता था कि उन्होंने प्रतिकूल व्यापार नीतियाँ अपनाई थीं (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 88)।

3. **लूट और संसाधनों की प्राप्ति:** सीलोन के आक्रमणों में दिखाई देने वाले विस्तार के स्थापित चोल प्रतिरूप का अनुसरण करते हुए, राजेंद्र चोल I को लूट के माध्यम से अतिरिक्त संसाधनों की आवश्यकता भी रही होगी (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 80)। स्वयं अभिलेख में "खज़ाने के विशाल ढेर" को अपने अधिकार में लेने का उल्लेख है (मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 170)। मलय या सुमात्रा जैसे क्षेत्रों को जीतने की इच्छा प्रायः स्वर्ण की निरंतर आपूर्ति सुनिश्चित करने की आवश्यकता से प्रेरित होती थी, जिसके कारण इस क्षेत्र को *सुवर्णद्वीप* (स्वर्ण का द्वीप) और *सुवर्णभूमि* (स्वर्ण की भूमि) कहा जाता था (मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 171)।

स्रोत यह स्पष्ट करते हैं कि यद्यपि चोल विजयों में कभी-कभी लूट शामिल होती थी, फिर भी उनका उद्देश्य सामान्यतः विजित क्षेत्रों को मिलाकर एक विस्तृत साम्राज्य बनाना या दीर्घकालिक आर्थिक साम्राज्यवाद स्थापित करना नहीं था (मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 171; सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 79)। इसके स्थान पर, चोलों ने युद्ध का उपयोग एक ऐसा उत्कर्ष स्थापित करने के लिए किया, जिसे अन्य तटीय राज्यों ने स्वीकार किया, जिसके परिणामस्वरूप बंगाल की खाड़ी कुछ हद तक एक "चोल झील" बन गई, जिसने समुद्री मार्गों पर प्रभुत्व स्थापित किया और चीन के साथ सीधे व्यापार को सुगम बनाया (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 80)।

कूटनीतिक मिशन और व्यापारिक संबंध

युद्ध के अतिरिक्त, चोलों ने अपने व्यापारिक हितों को सुरक्षित करने के लिए व्यवस्थित रूप से पूर्वी एशिया में कूटनीतिक मिशनों का उपयोग किया। राजराज I ने 1015 ई. में चीन एक व्यापार मिशन भेजकर इस प्रथा की शुरुआत की (देवरे, 2009, पृ. 182)। इसके बाद पूरे चोल राजवंश के दौरान मिशनों की एक श्रृंखला भेजी गई (देवरे, 2009, पृ. 182)। राजेंद्र चोल I ने 1033 ई. में चीन एक दूत भेजा, जिससे व्यापारिक संबंध सुदृढ़ हुए (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 84; देवरे, 2009, पृ. 183)। इस काफ़िले में तमिल अधिकारी और चीन के सम्राट के लिए उपहार थे, जिनमें मोतियों की टोपी और कोट, मोती तथा हाथीदाँत शामिल थे (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 84; देहेजिया, 2006, पृ. 169)। कुलोत्तुंग I ने 1077 ई. में एक मिशन भेजा, जिसके उपहारों में विभिन्न आकारों के मोती, कपूर, गैंडे के सींग, वस्त्र और अन्य वस्तुएँ शामिल थीं, जो यह संकेत देता है कि चोल व्यापार-वाहक के रूप में कार्य करना चाहते थे (देहेजिया, 2006, पृ. 169; देवरे, 2009, पृ. 183)।

आक्रमण के बाद भी श्रीविजय/कडारम के साथ संबंध जारी रहे। लगभग 1068 ई. में, वीरराजेंद्र के शासनकाल के दौरान, चोल नौसेना ने कडारम के अभियान के लिए फिर से बंगाल की खाड़ी पार की, इस बार स्पष्टतः कडारम के एक शरणागत राजा को कठिनाई से बचाने के लिए (मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 176)। बाद में, 1090 ई. में, कडारम के एक राजा ने नागपट्टिनम के बौद्ध मंदिर को दिए गए एक पिछले अनुदान की पुष्टि का अनुरोध करने के लिए कुलोत्तुंग I के अधीन चोल दरबार में एक मिशन भेजा (मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 176)। चोल देश में कडारम के राजा के अभिकर्ताओं (*कन्मि*) की निरंतर उपस्थिति और मिशनों के आदान-प्रदान से यह संकेत मिलता है कि नौसैनिक संघर्ष के बावजूद दोनों देशों के बीच अत्यंत घनिष्ठ संबंध बने रहे (मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 176)।

चोल नौसैनिक संगठन और समुद्री ज्ञान

चोल सैन्य संगठन में विशिष्ट नौसैनिक कर्मी भी शामिल थे। 1187 ई. के एक अभिलेख में *करैप्पडैयिलार* के एक सेनापति (*तंडलनायगम्*) का उल्लेख है, जिसका अर्थ है "समुद्र-तट की सेना" (सुब्बारायलु, 2009, पृ. 92, 93)। इस सेनापति का नाम *कडल्कोळमितंतान* था, जिसका अर्थ है "वह जो समुद्र के निगल जाने पर भी तैरता रहा", जो समुद्र के साथ उसके परिवार के दीर्घकालिक संबंध का संकेत देता है (सुब्बारायलु, 2009, पृ. 93)। यह संभव है कि तटीय क्षेत्र के स्थानीय मछुआरा समुदाय, *पट्टिनवर*, ने चोल नौसैनिक संगठन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई हो (सुब्बारायलु, 2009, पृ. 93)। चोल व्यापारिक बेड़े में कम से कम तीन विभिन्न प्रकार के जलयान शामिल थे:

1. **संगर:** ये मध्यम आकार के जलयान थे, जिन्हें कभी-कभी "आउटरिगर" (पार्श्व-संतुलक नौका) कहा जाता था (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 83)। ये एक-साथ बँधे लकड़ी के एकल लट्ठों से बनाए जाते थे और मुख्य रूप से तटीय जलयानों के रूप में कार्य करते थे, जो बड़ी मात्रा में माल ले जाने में सक्षम थे (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 83)।
2. **कोलंडिया:** ये बड़े, समुद्र में चलने वाले, अभियान-योग्य जलयान थे, जो मलय, सुमात्रा और गंगा तक पहुँचने जैसी दूरस्थ यात्राओं में सक्षम थे (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 83; देवरे, 2009, पृ. 179)। इनमें माल-कक्ष होते थे और ये बड़ी मात्रा में रसद ले जाने में सक्षम थे (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 83)।
3. **कट्टु-मरम्:** छोटी नौकाएँ, जिनका शाब्दिक अर्थ है "बँधे हुए लट्ठे", जिनसे आधुनिक शब्द कैटामरैन बना है (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 83)। ये लंगर डाले जहाज़ों से माल ढोने के लिए आवश्यक थीं और उभयचर सेनाओं के लिए मूलभूत प्लवन-इकाई के रूप में प्रयुक्त होती थीं, जो लहरों और उथले जल को पार करती थीं (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 83)।

चोल सैन्य संगठन में विशिष्ट नौसैनिक कर्मी भी शामिल थे। 1187 ई. के एक अभिलेख में *करैप्पडैयिलार* के एक सेनापति (*तंडलनायगम्*) का उल्लेख है, जिसका अर्थ है "समुद्र-तट की सेना" (सुब्बारायलु, 2009, पृ. 92, 93)। इस सेनापति का नाम *कडल्कोळमितंतान* था, जिसका अर्थ है "वह जो समुद्र के निगल जाने पर भी तैरता रहा", जो समुद्र के साथ उसके परिवार के दीर्घकालिक संबंध का संकेत देता है (सुब्बारायलु, 2009, पृ. 93)। यह संभव है कि तटीय क्षेत्र के स्थानीय मछुआरा समुदाय, *पट्टिनवर*, ने चोल नौसैनिक संगठन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई हो (सुब्बारायलु, 2009, पृ. 93)।

नौचालन कौशल और रसद

1025 के नौसैनिक आक्रमण की सफलता चोल नाविकों की परिष्कृत नौचालन-निपुणता को उजागर करती है (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 82)। तमिल नाविकों को बंगाल की खाड़ी, दक्षिण-पूर्व एशियाई जल-क्षेत्रों और चीन तक प्रचलित मानसूनी हवाओं और धाराओं की गहरी समझ थी (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 80, 82)। यह ज्ञान इसलिए महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि चोल जहाज़ों में पतवार (रडर) या चुंबकीय कम्पास नहीं लगे होते थे, जिसके कारण तट के साथ-साथ नौचालन या समानांतर/वृहत्-वृत्त नौचालन पर निर्भर रहना पड़ता था (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 81)।

प्रयुक्त विशिष्ट नौचालन तकनीकों में शामिल थीं:

- **खगोलीय नौचालन:** नाविकों ने आकाशीय पिंडों (तारों, सूर्य और चंद्रमा) का परिष्कृत ज्ञान विकसित किया था और वे उत्तरी गोलार्ध में दिखाई देने वाले कम से कम छप्पन तारों का उपयोग करते थे (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 81)।
- **सर्वोत्तम मार्ग-योजना:** पूर्व की ओर यात्रा के लिए सबसे उपयुक्त ऋतुएँ जुलाई–अगस्त और दिसंबर के अंत से जनवरी तक थीं, जब उत्तर-पूर्वी हवाएँ और पूर्व की ओर बहने वाली धाराएँ शीघ्र यात्रा को सुगम बनाती थीं (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 81)। यात्रा प्रायः *मृगशिरा* और *आर्द्रा* जैसे विशिष्ट नक्षत्रों को देखने के बाद आरंभ होती थी (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 82)।
- **स्थल-चिह्न और ठहराव के बंदरगाह:** पूर्व की ओर जाने वाले जहाज़ सामान्यतः कोरोमंडल तट के साथ दक्षिण की ओर सिंहलम् (श्रीलंका) की ओर जाते थे और कल्मुनै या तिरुकोइल जैसे स्थानों से पूर्व की ओर प्रस्थान करते थे (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 81)। निकोबार द्वीप (मानक्कवारम्) रसद की पूर्ति, मरम्मत और विश्राम के लिए एक महत्त्वपूर्ण माल-अंतरण या पड़ाव बंदरगाह के रूप में कार्य करते थे (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 81, 82)।
- **गोपनीयता और छल:** बेड़े के प्रस्थान का वास्तविक बंदरगाह संभवतः छिपाया गया था (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 82)। यद्यपि नागपट्टिनम मुख्य व्यापारिक बंदरगाह था, फिर भी वहाँ एक बड़ा जहाज़-निर्माण कार्यक्रम विदेशी व्यापारियों की नज़र में आ जाता (सखुजा और सखुजा,

2009, पृ. 82)। यह संभव है कि सेनापति को ले जाने वाला प्रमुख जहाज़ नागपट्टिनम से रवाना हुआ हो, जबकि शेष बेड़ा समुद्र में मिला हो, जो छल और अचानक आक्रमण के सामरिक तत्त्व को दर्शाता है (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 82)।

दक्षिण-पूर्व एशिया की लंबी यात्रा के लिए एक विशाल रसद आपूर्ति-श्रृंखला की आवश्यकता थी (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 88)। जहाज़ों को हज़ारों सैनिकों और चालक-दल के सदस्यों की सहायता के लिए भारी मात्रा में भोजन, जल, मरम्मत-सामग्री, हथियार और रसद ले जानी पड़ती थी (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 78, 84)। प्राचीन दक्षिण भारतीयों की आहार संबंधी आदतों के आधार पर, रसद में संभवतः मुख्य भोजन चावल की भारी मात्रा, साथ ही चीनी, मसाले, दही, नारियल और संभवतः मांस शामिल थे (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 84, 85)। लंबी दूरी के लिए ताज़ा जल एक बड़ी चुनौती थी और उसे लकड़ी के पीपों में संग्रहीत किया जाता होगा, जिसके लिए संभवतः विशेष जल-वाहक जहाज़ों की आवश्यकता होती थी (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 85, 86)। नारियल बेड़े के लिए जल, भोजन और औषधि के वैकल्पिक स्रोत के रूप में अत्यधिक मूल्यवान थे (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 86)। इस रसद ने चोलों की सैन्य-समुद्री अभियानात्मक युद्ध-क्षमता को प्रदर्शित किया (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 88)।

ख) अंतर-सांस्कृतिक संपर्क

चोल साम्राज्य के समुद्री प्रभुत्व और व्यापक व्यापारिक तंत्रों ने सशक्त अंतर-क्षेत्रीय तंत्र स्थापित किए, जिन्होंने पूरे हिंद महासागरीय संसार में गहन अंतर-सांस्कृतिक संपर्क को सुगम बनाया।

अंतर-क्षेत्रीय तंत्रों में व्यापार और व्यापारी संघों की भूमिका

लगभग 1000 ई. के काल में चोल साम्राज्य सहित शक्तिशाली कॉर्पोरेट साम्राज्यों का उदय हुआ, जो अपने बजट के लिए केवल भू-राजस्व पर नहीं, बल्कि सीमा-शुल्क और लंबी दूरी के व्यापार पर बहुत अधिक निर्भर थे (मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 168)। चोलों ने वाणिज्य और व्यापार-मिशनों के माध्यम से विदेशी समुद्री व्यापार को प्रोत्साहित किया (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 77)। यह व्यापार विविध था, जो विलासिता की वस्तुओं से आगे बढ़कर संसाधित लोहा, मसाले, चंदन, वस्त्र, मोती और पशुओं तक फैला हुआ था (मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 169)।

इस अंतरराष्ट्रीय व्यापार का निर्णायक इंजन व्यापारी संघों का शक्तिशाली तंत्र था (देवरे, 2009, पृ. 181–182)। इस काल के दौरान कई संघ फले-फूले:

1. **ऐनूट्टुवर (अय्यावोले):** यह संघ, जिसे *पदिनेन-विषयम्* (या *पदिनेन-भूमि*) के नाम से भी जाना जाता था, चोलों के अधीन विशेष रूप से शक्तिशाली हुआ और नागपट्टिनम बंदरगाह से घनिष्ठ रूप से जुड़ गया (देवरे, 2009, पृ. 182; मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 174)।

2. **मणिग्रामम्:** यह संघ दक्षिण-पूर्व एशिया में सक्रिय था, जिसकी नौवीं शताब्दी के दौरान स्थलडमरूमध्य के पश्चिमी तट पर तकुआपा में एक बस्ती स्थापित थी (देवरे, 2009, पृ. 183; मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 174)।
3. **नानादेशी:** यह नाम अनेक देशों में व्यापार में संलग्नता का संकेत देता है (मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 174)।

इन संघों का संपर्क लाल सागर से लेकर दक्षिण चीन तक फैला हुआ था (मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 174)। उन्होंने स्थानीय शासकों से प्राप्त अनुज्ञप्तियों के अंतर्गत विदेशी भूमि पर अपनी बस्तियाँ स्थापित कीं और प्रायः अपने हितों की रक्षा के लिए भाड़े की सेनाएँ रखीं (मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 175; देवरे, 2009, पृ. 181)। चोल साम्राज्यवादी विस्तार कभी-कभी सीधे इन व्यापारियों से प्रभावित होता था, जो सैन्य हस्तक्षेप के लिए दबाव डालते थे (मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 174)। उदाहरण के लिए, कहा जाता है कि एक व्यापारी ने राजराज I को श्रीलंका के राजा की कमज़ोरी के बारे में सलाह देते हुए सैन्य हस्तक्षेप का सुझाव दिया था (मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 174)।

इस समुद्री व्यापार की वृद्धि से समुद्र के रास्ते एक वैकल्पिक रेशम मार्ग का विकास हुआ, जो मध्य-पूर्व से होकर जाने वाले राजनीतिक रूप से अस्थिर स्थल मार्ग से बचता था (मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 174)। दक्षिण भारतीय तट (जैसे नागपट्टिनम और कावेरीपूम्पट्टिनम) और मलय प्रायद्वीप (जैसे तक्कोलम और कडारम) के बंदरगाह एम्पोरिया व्यापार के सुविधाजनक केंद्र बन गए (मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 174)।

भारतीय वस्त्रों की सांस्कृतिक विरासत

अंतर-सांस्कृतिक संपर्क के सबसे गहन पहलुओं में से एक वस्त्रों का व्यापार था, जो संस्कृति के एक प्रमुख वाहक के रूप में कार्य करता था (देवरे, 2009, पृ. 179, 187)। सूती कपड़ा कोरोमंडल तट से निर्यात की जाने वाली एक मुख्य वस्तु था (देवरे, 2009, पृ. 179)। मदुरै और तंजौर जैसे वस्त्र-केंद्र सूती बुनाई में प्रमुख थे (देवरे, 2009, पृ. 179)।

ग्यारहवीं शताब्दी तक चोल क्षेत्र में बुनाई और रँगाई उद्योग तकनीकी रूप से उन्नत हो चुके थे (देवरे, 2009, पृ. 182)। ठप्पा-छपाई वाले वस्त्र, नील से प्रतिरोध-रँगाई किए गए, या जटिल प्रतिरूपों के साथ रंगबंधक (मॉर्डेंट) से रँगे वस्त्र, भारी मात्रा में दक्षिण-पूर्व एशिया और मध्य-पूर्व को निर्यात किए जाते थे (देवरे, 2009, पृ. 182)। दक्षिण-पूर्व एशियाई लोग प्रायः अपने मसालों का विनिमय केवल इन्हीं विशिष्ट भारतीय वस्त्रों के बदले करते थे (देवरे, 2009, पृ. 182)।

इस व्यापार के सांस्कृतिक निहितार्थ अत्यधिक थे:

1. **प्रतिष्ठा के प्रतीक:** आयातित भारतीय वस्त्र प्रायः समारोहिक और राजसी होते थे, जो अपने साथ पदानुक्रम, पद और प्रतिष्ठा की अंतर्निहित धारणाएँ लाते थे (देवरे, 2009, पृ. 187)। इन्हें जावा, थाईलैंड और सुमात्रा के अभिजात वर्ग और कुलीनों ने अपनाया (देवरे, 2009, पृ. 187)। अंगकोर की उभरी नक्काशियों में कपड़ों और छत्रों पर बने प्रतिरूप राजा की संप्रभुता और सामाजिक प्रतिष्ठा की घोषणा करते थे (देवरे, 2009, पृ. 182, 185)।
2. **स्थानीय संस्कृति में समावेश:** प्रतिरूपित कपड़ा व्यापक रूप से प्रचलित हुआ और अंततः स्थानीय सांस्कृतिक प्रथाओं में समाहित हो गया (देवरे, 2009, पृ. 182, 187)। इंडोनेशिया में, ये वस्त्र, जिन्हें सुलावेसी में *मा'आ* कहा जाता है, पौराणिक कथाओं और विवाह तथा अंत्येष्टि जैसी पारंपरिक प्रथाओं से जुड़े पवित्र खज़ाने माने जाते थे (देवरे, 2009, पृ. 189)। इन्हें प्रायः सुरक्षात्मक शक्तियों या जादुई गुणों से युक्त माना जाता था, जैसे शुभ भारतीय वस्त्रों से बनी जावा की *अंताकुसुमा* जैकेट (देवरे, 2009, पृ. 189, 190)।
3. **कलात्मक प्रभाव:** अंगकोर की उभरी नक्काशियों में दिखाए गए वस्त्र-प्रतिरूपों में परिवर्तन ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों के दौरान भारतीय निर्यात-वस्त्रों की बढ़ती लोकप्रियता को दर्शाते हैं (देवरे, 2009, पृ. 182)। ज्यामितीय डिज़ाइन, चार पंखुड़ियों वाले फूल और सूर्य-चक्र जैसे अभिप्राय लोकप्रिय हुए (देवरे, 2009, पृ. 182)। यह प्रभाव मंदिर-सज्जा तक फैल गया; उदाहरण के लिए, म्यांमार के पगान में थेटक्यमुनि मंदिर की छत पर चित्रित अभिप्राय कोरोमंडल तट का एक मानक भारतीय डिज़ाइन है (देवरे, 2009, पृ. 185)।
4. **पोशाक और वेशभूषा:** भारतीय प्रभाव पोशाकों तक फैल गया, जो साधारण लंगोटी से हटकर अधिक विस्तृत रूपों की ओर बढ़ा (देवरे, 2009, पृ. 187)। ख्मेर लोगों का *चावंग काबुन* भारतीय धोती के समतुल्य था (देवरे, 2009, पृ. 188)। चंपा (मध्य वियतनाम) में, दसवीं शताब्दी के मध्य की मूर्तियों पर चित्रित वेशभूषा-शैली, जिसे चंदाटक (एक समृद्ध रूप से अलंकृत, त्वचा से चिपका कपड़ा) कहा जाता है, उसी काल की दक्षिण भारत की नर्तकियों और देवियों की चोल कांस्य प्रतिमाओं पर दिखाई देने वाली पोशाकों से मेल खाती है (देवरे, 2009, पृ. 188)।

धार्मिक और कलात्मक पैठ

राजेंद्र के नौसैनिक अभियान और उसके बाद की व्यापारिक पैठ के कारण पूर्वी और दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय संस्कृति, धर्म, भाषाओं, कलाओं और स्थापत्य की व्यापक पैठ हुई, जिसे इतिहासकारों ने "वृहत्तर भारत" (ग्रेटर इंडिया) के विकास के रूप में वर्णित किया (मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 177; देवरे, 2009, पृ. 184)।

चोल प्रभाव पल्लवों द्वारा पहले स्थापित एक सांस्कृतिक आधार पर निर्मित हुआ (देवरे, 2009, पृ. 184)। हस्तांतरित मूल तत्त्वों में शामिल थे:

1. **देवराज और देवत्वीकरण:** शिव और विष्णु की पूजा के साथ *देवराज* की अवधारणा को व्यापक रूप से अपनाया गया (देवरे, 2009, पृ. 184)। कंबोडिया और जावा के शासक स्वयं को विष्णु और शिव मानने लगे (देवरे, 2009, पृ. 184)। मध्य-चोलों के अधीन, इस देवत्वीकरण को इस विश्वास के साथ और बढ़ावा मिला कि राजा मंदिर और स्वयं देवता के साथ तादात्म्य स्थापित करके अपनी दैवीय शक्ति बढ़ाता है (देवरे, 2009, पृ. 184)।
2. **प्रतिमा-विद्या और अभिप्राय:** हिंदू प्रतिमा-विद्या ने स्थानीय कला को गहराई से प्रभावित किया। उदाहरण के लिए, देवताओं के ऊर्ध्व-लोक को मेरु पर्वत में रूपांतरित किया गया, जो मंदिर-संरचनाओं और वस्त्रों में सशक्त रूप से व्यक्त होने वाला अभिप्राय है (देवरे, 2009, पृ. 186)। *मंडल* (वृत्त) की अवधारणा जावा के बाटिक में *कावुंग* प्रतिरूप में रूपांतरित हुई (देवरे, 2009, पृ. 186)। दक्षिण भारत में प्रचलित *नाग* प्रतीकवाद को दक्षिण-पूर्व एशिया में सहज स्वीकृति मिली (देवरे, 2009, पृ. 187)।
3. **कलात्मक शैली:** नौवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक की प्रायद्वीपीय स्याम (सियाम) की ब्राह्मणवादी मूर्तियों पर चोल कला का प्रभाव छाया हुआ था, जो विशेष रूप से तकुआपा में प्रनरै पहाड़ी की पत्थर की मूर्तियों में स्पष्ट है (देवरे, 2009, पृ. 184)। कलाओं (स्थापत्य, मूर्तिकला, कांस्य-ढलाई) के चोल संरक्षण ने एक अमिट छाप छोड़ी (देवरे, 2009, पृ. 184)।
4. **साहित्यिक और प्रदर्शन कलाएँ:** हिंदू परंपराएँ, विशेष रूप से *रामायण* और *महाभारत*, शास्त्रीय रंगमंचीय प्रदर्शनों का आधार बनीं, जिनमें समृद्ध पोशाकों के प्रयोग की आवश्यकता होती थी (देवरे, 2009, पृ. 190)। चित्र-वाचन के लिए प्रयुक्त चित्रित पटों की कला, जिसे संस्कृत स्रोतों में *यमपट्टिका* (मृत्यु का संदेश देने वाले) या *चलचित्र* (चलते-फिरते चित्र) कहा जाता है, घुमंतू ब्राह्मणों द्वारा ले जाई गई एक पुरानी परंपरा थी, जिसने बर्मी और स्यामी सजावटी पर्दों (*कलगा*) को प्रभावित किया (देवरे, 2009, पृ. 185)।

दक्षिण-पूर्व एशिया में मिले तमिल अभिलेख, जो ग्रंथ लिपि (संस्कृत और तमिल की एक सामान्य लिपि) में लिखे गए हैं, इस संबंध की और भी पुष्टि करते हैं, जिनमें से अनेक चोल काल (ग्यारहवीं से बारहवीं शताब्दी) के हैं (देवरे, 2009, पृ. 183)। सुमात्रा में बारुस (कपूर का एक केंद्र) में मिले 1088 ई. के एक अभिलेख में वहाँ के भारतीय समुदाय (*ऐनूट्टुवर* संघ के सदस्यों) द्वारा वस्त्र-व्यापार पर एक धर्मार्थ शुल्क के संबंध में लिया गया एक निर्णय तमिल में दर्ज है (देवरे, 2009, पृ. 183)।

श्रीलंका के साथ चोल विजय और सांस्कृतिक संपर्क

श्रीलंका (ईळम्) के प्रति चोलों का गहरा लगाव चोल शासन की चारों शताब्दियों के दौरान एक स्थायी विशेषता थी, जिसमें युद्ध और विजय बार-बार होने वाली घटनाएँ थीं (देहेजिया, 2006, पृ. 168)। इस द्वीप के प्रति यह लगाव कम से कम तीन प्रमुख कारकों से प्रेरित था:

1. **सीमा-शुल्क और रणनीतिक बंदरगाहों पर नियंत्रण:** श्रीलंका के बंदरगाह मध्य-पूर्व और चीन के बीच लंबी यात्रा करने वाले व्यापारियों के लिए सुरक्षित बंदरगाह प्रदान करते थे (देहेजिया, 2006, पृ. 166–167)। इन बंदरगाहों पर नियंत्रण लड़ने योग्य पुरस्कार था, क्योंकि इससे लाभदायक सीमा-शुल्क पर अधिकार करने और समुद्री व्यापार को चोल बंदरगाह नागपट्टिनम की ओर मोड़ने का अवसर मिलता था (देहेजिया, 2006, पृ. 167)।
2. **मन्नार की खाड़ी के मोती-क्षेत्र:** दूसरा, महत्त्वपूर्ण कारण पवित्र मंदिर-कांस्य प्रतिमाओं को सजाने के लिए प्रयुक्त मोती के आभूषणों के प्रति चोलों का गहरा लगाव था (देहेजिया, 2006, पृ. 167)। दक्षिण भारत और श्रीलंका के बीच स्थित मन्नार की खाड़ी में मोती-सीपों के प्रमुख मत्स्य-क्षेत्र थे (देहेजिया, 2006, पृ. 167)। चोल राजाओं, विशेष रूप से राजराज I, ने अपने मंदिरों को भारी संख्या में (हज़ारों की संख्या में) मोती दान किए (देहेजिया, 2006, पृ. 169)। इन मोती-क्षेत्रों तक पहुँच को नियंत्रित करने की इच्छा पांड्यों और लंका के शासकों के साथ संघर्ष का एक प्रमुख स्रोत थी (देहेजिया, 2006, पृ. 168–169)।
3. **ताँबे के अयस्क का स्रोत:** यह भी प्रस्तावित किया गया है कि श्रीलंका की सेरुविला ताम्र-पट्टी चोल मंदिरों की पवित्र कांस्य प्रतिमाएँ बनाने के लिए आवश्यक ताँबे के अयस्क का स्रोत रही होगी (देहेजिया, 2006, पृ. 171)। चोल शासन के आरंभ में लकड़ी की उत्सव-प्रतिमाओं से ताँबे की प्रतिमाओं की ओर परिवर्तन के लिए ताँबे के एक बड़े, निकटवर्ती स्रोत तक विश्वसनीय पहुँच आवश्यक रही होगी (देहेजिया, 2006, पृ. 171)।

श्रीलंका में सांस्कृतिक प्रशासन और कला

लगभग सत्तर वर्षों (998–1070 ई.) तक, चोलों ने श्रीलंका के उत्तरी भाग पर कब्ज़ा और नियंत्रण बनाए रखा और उसे मुम्मुडिचोलमंडलम् नामक प्रांत में परिवर्तित कर दिया (देहेजिया, 2006, पृ. 172)। उन्होंने पोलोन्नरुवा में एक नई राजधानी स्थापित की, जिसका नाम बदलकर उन्होंने जननाथ-मंगलम् रखा (देहेजिया, 2006, पृ. 172)।

चोलों की उपस्थिति के परिणामस्वरूप पोलोन्नरुवा में सोलह तक हिंदू मंदिरों (*देवालों*) का निर्माण हुआ, यद्यपि केवल शिव देवाल 1 और 2 ही पूरी तरह से पत्थर से बने थे (देहेजिया, 2006, पृ. 172)। सबसे

प्रारंभिक, शिव मंदिर 2, का नाम राजराज की प्रमुख रानी, वानवन महादेवी, के नाम पर रखा गया था और इसमें कावेरी डेल्टा के मंदिरों से स्पष्ट स्थापत्य समानताएँ दिखाई देती थीं (देहेजिया, 2006, पृ. 172)। राजराज के नाम पर एक अन्य मंदिर (*राजराजेश्वर*) तटीय नगर मन्नार (प्राचीन मातोट्टम्) में बनाया गया, जो मोती-क्षेत्रों के निकट होने और तमिल *नायनमार* संतों द्वारा गाए गए एक पवित्र स्थल के रूप में अपनी स्थिति के कारण महत्त्वपूर्ण स्थल था (देहेजिया, 2006, पृ. 173)।

हिंदू कांस्य प्रतिमाएँ और अंतर-सांस्कृतिक कलात्मक अनुकूलन

पोलोन्नरुवा से प्राप्त कांस्य प्रतिमाएँ चुनौतीपूर्ण शैलीगत प्रश्न उठाती हैं, जो स्थानीय श्रीलंकाई कलात्मक परंपराओं और आयातित हिंदू प्रतिमा-विद्या के बीच टकराव को प्रकट करती हैं (देहेजिया, 2006, पृ. 175)। एक हज़ार वर्षों से अधिक समय तक श्रीलंकाई कलाकार केवल दो भुजाओं वाली, शांत, अलंकरण-रहित बौद्ध आकृतियाँ गढ़ने के अभ्यस्त थे (देहेजिया, 2006, पृ. 175)। जब उन्हें तमिल संरक्षकों के लिए हिंदू कांस्य प्रतिमाएँ बनाने का कार्य सौंपा गया, तो इन स्थानीय मूर्तिकारों ने अपरिचित हिंदू प्रतिमा-विद्या को आत्मसात करने में भिन्न-भिन्न स्तर की सफलता प्रदर्शित की (देहेजिया, 2006, पृ. 175)।

- **नृत्यरत शिव (नटराज):** शिव मंदिर 5 में अनेक नटराज कांस्य प्रतिमाएँ मिलीं (देहेजिया, 2006, पृ. 175–176)। उदाहरण के लिए, मूर्तिकार "A" ने चार भुजाओं वाले देवता को बनाने में हिचकिचाहट और असहजता दिखाई, जिसके परिणामस्वरूप कंधे अत्यधिक चौड़े हो गए और अतिरिक्त भुजाओं का जुड़ाव बेढंगा हो गया (देहेजिया, 2006, पृ. 175)। चेहरे भी कावेरी डेल्टा की शैली से भिन्न थे (देहेजिया, 2006, पृ. 177)। एक छोटी, अधिक कुशलता से बनी नटराज प्रतिमा, जो संभवतः आयातित थी या किसी आगंतुक कावेरी मूर्तिकार ("C") द्वारा बनाई गई थी, ने दो बाईं भुजाओं के बेढंगे जोड़ को छिपाने के लिए एक दुपट्टा जोड़ने की विशिष्ट भारतीय बारीकी प्रदर्शित की, जिसे स्थानीय श्रीलंकाई मूर्तिकारों ने बड़ी प्रतिमाओं में छोड़ दिया था (देहेजिया, 2006, पृ. 178, 180)।
- **उमा (पार्वती):** श्रीलंकाई कलाकारों को विशिष्ट दक्षिण भारतीय *त्रिभंग* अर्थात् "तीन स्थानों से मुड़ी" विपरीत-मुद्रा (कॉन्ट्रापोस्तो) में भी कठिनाई हुई (देहेजिया, 2006, पृ. 182)। पोलोन्नरुवा की एक सशक्त उमा प्रतिमा असंगत और बेढंगा प्रभाव प्रदर्शित करती है, क्योंकि सिर और धड़ को कावेरी बेसिन की प्रतिमाओं की अपेक्षा के अनुसार निचले शरीर के विपरीत रखने के स्थान पर एक ही कोण पर रखा गया था (देहेजिया, 2006, पृ. 182)।
- **हिंदू संत:** तमिल बसने वालों के बीच शैव *नायनमार* संतों की लोकप्रियता बनवाई गई कांस्य प्रतिमाओं की संख्या में स्पष्ट है, जो विभिन्न स्थानीय कार्यशालाओं के भिन्न सौंदर्यशास्त्रीय मानदंडों को दर्शाती हैं (देहेजिया, 2006, पृ. 184)। पोलोन्नरुवा की एक अनूठी कांस्य प्रतिमा

> क्षीणकाय स्त्री-संत, कारैक्काल की माता (कारैक्काल अम्मैयार), का असाधारण चित्रण है (देहेजिया, 2006, पृ. 180)। केवल त्वचा और हड्डियों वाला यह विचित्र, वृद्धा-सदृश चित्रण गंगैकोंडचोलपुरम् में राजेंद्र के मुख्य भूमि वाले मंदिर में पाई जाने वाली छवि के इतना निकट था कि इससे यह संकेत मिलता है कि कलाकार मुख्य भूमि की उस विशिष्ट छवि से प्रत्यक्ष रूप से परिचित था (देहेजिया, 2006, पृ. 180)।

यह अंतर-सांस्कृतिक संपर्क लेन-देन पर आधारित था: तमिल प्रवासी हिंदू समुदायों ने बौद्ध मंदिरों को भी सहायता दी, जैसे पोलोन्नरुवा में वटदागे नामक वृत्ताकार बौद्ध मंदिर के लिए उपहार बनवाना (देहेजिया, 2006, पृ. 190)। श्रीलंका के राजा विजयबाहु के शासनकाल का एक रोचक अभिलेख एक नवनिर्मित राजकीय बौद्ध मठ की सुरक्षा का दायित्व उन तमिल भाड़े के सैनिकों को सौंपता है, जो तमिल व्यापारी संघों की रक्षा करते थे (देहेजिया, 2006, पृ. 190)। यह दर्शाता है कि युद्ध, व्यापार और सांस्कृतिक संरक्षण गहराई से परस्पर जुड़े हुए थे, जिनमें भाड़े की सेनाएँ व्यापारिक और धार्मिक, दोनों हितों की रक्षा में भूमिका निभाती थीं (देहेजिया, 2006, पृ. 190)।

निष्कर्ष

चोल साम्राज्य की सफलता हिंद महासागरीय संसार में शक्ति स्थापित करने के उसके व्यवस्थित दृष्टिकोण से उत्पन्न हुई, जिसमें सैन्य शक्ति को रणनीतिक वाणिज्य और कूटनीति के साथ जोड़ा गया। राजराज I और राजेंद्र I द्वारा स्थापित अभूतपूर्व सैन्य समुद्री क्षमता ने श्रीलंका, मालदीव में प्रभुत्ववादी विस्तार और 1025 ई. में श्रीविजय राज्य के विरुद्ध सफल, यद्यपि संक्षिप्त, नौसैनिक आक्रमण को संभव बनाया (सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 76, 77)। यह सैन्य हस्तक्षेप मुख्य रूप से मोतियों और संभावित ताँबे जैसे प्रमुख संसाधनों तक पहुँच सुनिश्चित करने और व्यापारिक खतरों का सामना करने की आवश्यकता से प्रेरित था, जैसे चीनी बाज़ार तक चोलों की पहुँच के लिए आवश्यक व्यापार मार्गों पर श्रीविजय के शासकों द्वारा लगाए गए भारी शुल्क (देहेजिया, 2006, पृ. 167; सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 79)।

इसके परिणामस्वरूप होने वाला अंतर-सांस्कृतिक संपर्क गहन था। शक्तिशाली व्यापारी संघों के प्रसार ने, पूर्वी एशिया में कूटनीतिक व्यापार-मिशनों के साथ मिलकर, अंतर-क्षेत्रीय तंत्रों में चोलों की उपस्थिति को सुदृढ़ किया (मीनाक्षीसुंदरराजन, 2009, पृ. 174; सखुजा और सखुजा, 2009, पृ. 84)। भारतीय वस्त्र, विशेष रूप से छपे हुए सूती कपड़े, संस्कृति के प्रमुख वाहक बन गए, जो प्रतिष्ठा के प्रतीक के रूप में कार्य करते थे, स्थानीय फ़ैशन (जैसे धोती) को प्रभावित करते थे और दक्षिण-पूर्व एशिया के दरबारों में हिंदू प्रतिमा-विद्या को स्थापित करते थे (देवरे, 2009, पृ. 185, 187)। साथ ही, श्रीलंका जैसे विजित क्षेत्रों में चोलों ने मंदिरों का निर्माण करके और हिंदू अनुष्ठानों को लाकर अपनी उपस्थिति को भौतिक रूप से स्थापित किया, जिससे कलात्मक अनुकूलन का एक ऐसा काल आया, जिसमें स्थानीय मूर्तिकारों ने चोल कांस्य प्रतिमा-विद्या की जटिलता के साथ संघर्ष और प्रयोग किए (देहेजिया, 2006, पृ. 175)। यह इकाई प्रदर्शित

करती है कि चोल साम्राज्य ने उपजाऊ कावेरी डेल्टा से बहुत आगे तक एक स्थायी राजनीतिक और सांस्कृतिक उपस्थिति स्थापित करने के लिए युद्ध और धार्मिक कला का एकीकृत साधनों के रूप में उपयोग किया।

संदर्भ-सूची

- देहेजिया, वी. (2006). चोला ऑब्सेशन विद श्रीलंका एंड हिंदू ब्रॉन्ज़ेज़ फ़्रॉम द आइलैंड: इलेवन्थ सेंचुरी. इन वी. देहेजिया, द *थीफ़ हू स्टोल माई हार्ट: द मटीरियल लाइफ़ ऑफ़ ब्रॉन्ज़ेज़ फ़्रॉम चोला इंडिया, 855-1280* (पृ. 165–192).
- देवरे, एच. (2009). कल्चरल इम्प्लिकेशन्स ऑफ़ द चोला मैरिटाइम फ़ैब्रिक ट्रेड विद साउथईस्ट एशिया. इन एच. कुल्के, के. केसवपाणी, और वी. सखुजा (संपा.), *नागपट्टिनम टू सुवर्णद्वीप: रिफ़्लेक्शन्स ऑन द चोला नेवल एक्सपेडिशन्स टू साउथईस्ट एशिया* (पृ. 178–192). इंस्टीट्यूट ऑफ़ साउथईस्ट एशियन स्टडीज़.
- मीनाक्षीसुंदरराजन, ए. (2009). राजेंद्र चोलाज़ नेवल एक्सपेडिशन एंड द चोला ट्रेड विद साउथईस्ट एंड ईस्ट एशिया. इन एच. कुल्के, के. केसवपाणी, और वी. सखुजा (संपा.), *नागपट्टिनम टू सुवर्णद्वीप: रिफ़्लेक्शन्स ऑन द चोला नेवल एक्सपेडिशन्स टू साउथईस्ट एशिया* (पृ. 168–177). इंस्टीट्यूट ऑफ़ साउथईस्ट एशियन स्टडीज़.
- सखुजा, वी., और सखुजा, एस. (2009). राजेंद्र चोल I'ज़ नेवल एक्सपेडिशन टू साउथईस्ट एशिया: ए नॉटिकल पर्सपेक्टिव. इन एच. कुल्के, के. केसवपाणी, और वी. सखुजा (संपा.), *नागपट्टिनम टू सुवर्णद्वीप: रिफ़्लेक्शन्स ऑन द चोला नेवल एक्सपेडिशन्स टू साउथईस्ट एशिया* (पृ. 76–90). इंस्टीट्यूट ऑफ़ साउथईस्ट एशियन स्टडीज़.
- सुब्बारायलु, वाई. (2009). ए नोट ऑन द नेवी ऑफ़ द चोला स्टेट. इन एच. कुल्के, के. केसवपाणी, और वी. सखुजा (संपा.), *नागपट्टिनम टू सुवर्णद्वीप: रिफ़्लेक्शन्स ऑन द चोला नेवल एक्सपेडिशन्स टू साउथईस्ट एशिया* (पृ. 91–95). इंस्टीट्यूट ऑफ़ साउथईस्ट एशियन स्टडीज़.